योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

जन्मोत्सव विशेषांक

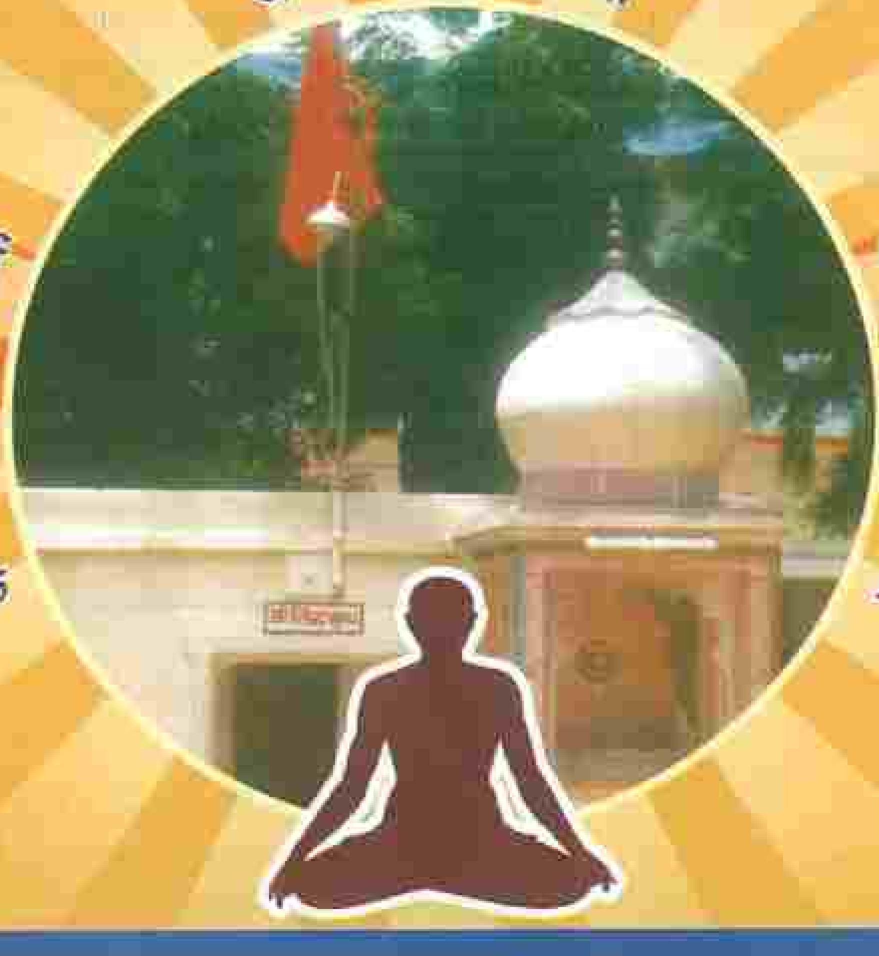

जन्मोत्सव विशेषांक

जन्मोत्सव विशेषांक

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 53 ; अंक : 07

अक्टूबर 2020

प्रकाशन तिथि : 01.10.2020

मूल्य - एक प्रति : 20/- , द्विवार्षिक : 360/-

अमृतकण

श्रद्धा धर्मसुता देवी पावनी विश्व भाविनी
सावित्री प्रसवित्री च संसारार्णव तारिणी
श्रद्धया ध्यायते धर्मो विद्वद्‌भिश्चात्मवादिभिः
निष्किंचनास्तु मुनयः श्रद्धावन्तो दिवं गताः।

श्रद्धा देवी धर्म की पुत्री है, वे विश्व को पवित्र एवं अभ्युदयशील बनाने वाली है। इतना ही नहीं, वे सावित्री के समान पावन, जगत को उत्पन्न करने वाली तथा संसार सागर से उद्धार करने वाली है। आत्मवादी विद्वान श्रद्धा से ही धर्म का चिंतन करते हैं। जिनके पास किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं है, ऐसे आकिंचन मुनि श्रद्धालु होने के कारण ही दिव्य लोकों को प्राप्त हुये हैं।

◆ ◆ ◆

शैल समं पापं विस्तीर्णं बहु योजनम्
भिद्यते ध्यान योगेन नान्यो भेत्ता कदाचन्।

यदि पापों का पहाड़ भी हो तो वह ध्यान योग से नष्ट किया जा सकता है। उसको नाश करने का दूसरा अन्य कोई सबल साधन नहीं है।

◆ ◆ ◆

आपूर्य माणम चल प्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।

जिस प्रकार से सारी नदियाँ अपना नामरूप खोकर समुद्र में समा जाती है उसी प्रकार से जिस योगी की सभी कामनायें आत्म प्रकाश में विलीन हो जाती हैं वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है किन्तु कामनाओं का आकांक्षी अशान्त ही बना रहता है।

●●●

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :– शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते–करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरुप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 53 अक्टूबर 2020 अंक : 7

वीत शोक :

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो,
उनीशया शोचति मुह्यमान।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीत शोकः।।

अर्थात् एक ही प्रकार के वृक्ष पर रहने वाला जीवात्म, गहरी आसक्ति में डूबा हुआ है। अतः असमर्थ होने के कारण मोहित हुआ शोक करता रहता है यह भगवान की अहैतुकी कृपा से साधकों द्वारा नित्य सेवित अपने से भिन्न परमेश्वर को उसकी आश्चर्यमयी महिमा को प्रत्यक्ष देख लेता है तब सर्वथा-शोक रहित हो जाता है।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई–बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख- योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	7
3.	श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्चा- डॉ. विजय सिंह	11
4.	नाम का अभ्यास करो- श्री विष्णुप्रसाद व्यास	14
5.	योग में ब्रह्मचर्य- डॉ. जे.पी. शर्मा	18
6.	तब ही मानव तन फल पाओ- स्वामी कोमल देव आश्रम	28
7.	चित्त शुद्धि एवं समाधि- श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री	29
8.	सोई जानई जेहि देहु जनाई- जगदीश राए बंसल	37
9.	योगक्षेमं वहाम्यहम्- श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा	42
10.	विज्ञानमय कोश- आचार्य श्रीराम शर्मा	46
11.	बुद्धियोग- एक साधक	51
12.	आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग- स्वामी विवेकानन्द	53

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 360.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1000.00

विशेष लेख—

प्राणायाम का अधिकारी कौन?

(योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज)

हमने इससे पहले अपने लेख में प्राणायाम की परिभाषा बतलाने का पूर्ण प्रयत्न किया है और प्राणायाम की परिभाषा समझाने के साथ–साथ उसके करने की क्या विधि है, यह भी समझाने का पूरा–पूरा प्रयत्न किया गया है। प्राणायाम में लगाये जाने वाले तीनों बंधों का वर्णन भली प्रकार से कर दिया गया है। प्राणायाम के अभ्यासी साधकों को चाहिए कि यदि वह प्राणायाम जैसी कठिन क्रिया को प्रारम्भ करते हैं तो अपनी योग्यता की जाँच भली प्रकार से कर लें। शिव–संहिता में भगवान शिव ने योगोपासक साधकों के विविध प्रकार के साधन लिखे हैं, उनमें कौन साधक किस योग का अधिकारी है भिन्न–भिन्न प्रकार से समझाया है। उनमें से सर्व साधारण के हित के लिए सभी प्रकार के साधकों के लक्षण हम यहाँ लिख देना उचित समझते हैं। अधिकारी के विभागानुसार ही साधक अपनी उन्नति एवं विकास कर सकता है। जो साधक जिस विषय का अधिकारी नहीं है, यदि वह उस विषय की ओर अपना कदम बढ़ाता है तो वह उसकी अनाधिकार चेष्टा है। परिणाम में कभी भी इष्ट सफलता । नहीं पा सकता। अतः साधक को चाहिए कि शास्त्रोक्त अधिकारानुसार ही स्वायत्त चेष्टावान होकर ही अपने आप को उन्नति के पथ पर बढ़ाये।

तीन प्रकार के योगाधिकारी

जिनमें से प्रथम मृदु साधक के लक्षण निम्नांकित पंक्तियों में लिखे जा रहे हैं—

मन्दोत्साही सुसंमूढो, व्याधिस्थो गुरुदूषकः।
लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रयः।।
चपलः कातरो रोगी पराधीनोऽति निष्ठुरः।
मंदाचारो मंदवीर्यो ज्ञातव्यो मृदुमानवः।।
द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम्।
मन्त्र योगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम्।।

अर्थात् मंदोत्साही तमसावृत्त मूढ़चित्त वाला, आधिव्याधियों से ग्रसित, गुरु निन्दक, लोभी, जिसके मन बुद्धि में हर समय पाप–वासनायें रहती हों, बहुत अधिक भोजन करने

वाला, स्त्री का वशानुवर्ती, कठोर बोलने वाला, मंद कर्मों वाला, मंद वीर्य वाला, इस प्रकार का जो साधक है वह मंदाधिकारी है। ऐसा साधक जो मंत्र योग का अधिकारी हो जिसमें ये लक्षण मिलते हों, उसको चाहिए कि वह साधक स्वाध्याय-परायण हो जाय। स्वाध्यायशील होकर ही समाधि प्राप्त करने का प्रयत्न करे। स्वाध्याय से ही उसको सफलता मिल सकती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति स्वाध्याय परायण होकर अवश्य ही समाधि को पा सकता है। क्योंकि इस विषय में शास्त्र की आज्ञा है कि–

स्वाध्यायाद्योगमासीत, योगात्स्वाध्याय मामनेत्।
स्वाध्याय योग संपत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।

ऐसे साधक को मन्त्र योग प्राप्त करके उसके जप में लग जाना चाहिए। जब जप करता-करता थक जाये तब ध्यानाभ्यास में लग जाये। इस प्रकार जप और ध्यान परायण हुआ व्यक्ति समाधि के द्वार तक पहुँच जाया करता है। ऐसा साधक मन्द योग का ही अधिकारी हो सकता है।

हठ योग का अधिकारी

स्थिर बुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि।
महाशयो दयायुक्तः क्षमावान् सत्यवानपि।।
शूरो वयस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्जपूजकः।
योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः।।
एतस्य सिद्धिः षड्वर्षैर्भवेदभ्यास योगतः।
एतस्मै दीयतो धीरा हठ योगश्च सांगतः।।

अर्थात् स्थिर बुद्धि वाला, जिसके निश्चय बार-बार बदलते न रहते हों, लय योग के साधनों में सामर्थ्य रखता हो, सब प्रकार से स्वतन्त्र हो, किसी भी प्रकार की किसी की आधीनता न हो, वीर्यवान् हो, और जिसके विचार ऊँचे हों, प्राणी मात्र पर दया की भावना मन में जगती हो, क्षमाशील हो, समाधि योग में प्रवृत्ति हो, सत्य जिसके मन में वास करता हो, श्री गुरुदेव के चरणारविन्द का पुजारी हो, शूर हो, योगाभ्यास में पूरी-पूरी लगन हो, इस साधक को अधिमात्र साधक कहते हैं। ऐसा साधक हठ योग का अधिकारी है। हठाभ्यासरत यह साधक जल्दी से जल्दी उन्नति को प्राप्त कर सकता है, इसके अतिरिक्त आगे जो लक्षण बतलाये जा रहे हैं। वह उत्तम अधिकारी के लक्षण है।

सब प्रकार से पूर्ण योगाधिकारी

महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि।
शास्त्रज्ञोऽभ्यास शीलश्च निर्मोहश्च निराकुलः।।
नवयौवन संपन्नो मितहारी जितेन्द्रियः।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः।।
अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमी।
सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियं वदः।।
शास्त्र विश्वास सम्पन्नो देवता गुरु पूजकः।
जन संग विरक्तश्च महाव्याधि विवर्जितः।।
अधिमात्र तरो ज्ञेयः सर्व योगस्य साधकः।
त्रिभिस्संवत्सरै सिद्धि रेतस्य नाम संशयः।।
सर्व योगाधिकारी स नाम कार्य विचारणा।।

अर्थात् महावीर्यवान्, उत्साहयुक्त, स्वरूपवान्, सूरता सम्पन्न, शास्त्रज्ञ, अभ्यासशील, मोह से रहित, आकुलता रहित अर्थात् सावधान, नव यौवन सम्पन्न, मिताहारी, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, निर्भय, पवित्र आचार वाला, चतुर, दानशील, शरणागत पालक, स्थिर चित्त बुद्धिमान, सन्तोषयुक्त क्षमावान, शीलवान, धार्मिक कर्मों को गोप्य रखने वाला, प्रिय सत्यवादी शास्त्र में विश्वास देवता और गुरुपूजक, जन संग रहित, महाव्याधि रहित, ऐसे गुण जिसमें हों वह सर्वयोग का साधक है। ऐसे साधक को तीन वर्ष में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है इसमें बिलकुल भी संशय नहीं है। यह साधक सर्व योग का अधिकारी है ऐसे साधक को श्री गुरुदेव जी समस्त योग का उपदेश कर देते हैं। इसमें विचार करने की आवश्यकता नहीं रहनी है। इस प्रकार से योग के विभिन्न अधिकारी साधकों का वर्णन शिव संहिता में भगवान् शिव ने किया। योग दर्शन में भी अधिकार–भेद भली प्रकार समझाया गया है। भगवान् पतंजलि देव ने इस प्रकार के अधिकारियों को समझाने के लिए तीन सूत्रों का उल्लेख किया उनके विशेष व्याख्यान की इस लेख में आवश्यकता नहीं है; किन्तु फिर भी संकेत मात्र में मैं यहाँ लिख देना उचित समझता हूँ।

श्रद्धावीर्यस्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात् जो व्यक्ति श्रद्धा वीर्य के द्वारा स्मृति समाधि को पैदा करके प्रज्ञा पूर्वक आगे बढ़ता है उसका रास्ता अन्तराय रहित हो जाता है ऐसे व्यक्ति के भी तीन–तीन भेद हो जाते

हैं। मृदु संवेग, मध्य संवेग, तीव्र संवेग। जिनके लिए भगवान् पतंजलि देव ने—

तीव्र संवेगानासन्नः—कह करके तीव्र अधिकारियों के लिए जल्दी समाधि लाभ का फल लिखा है। हमारे पहले लेखों में प्राणायाम की परिभाषा और उसकी विधि का भली प्रकार वर्णन किया जा चुका है। किन्तु यह सब कुछ होने पर भी मनुष्य को अधिकार–भेद समझकर पग बढ़ाना बहुत ही आवश्यक है। कम से कम हठयोग का अधिकारी ही प्राणायाम में प्रवृत्त हो सकता है। यदि साधक अधिक मात्रा में योग का अधिकारी हो है तो सर्वोत्कृष्ट है ही अन्यथा इस लेख में ऊपर हठयोग के अधिकारी के लक्षण बतलाये गये हैं उतना तो आवश्यक है ही। अतः प्राणायाम के साधक को अपने अधिकार को शास्त्रोक्त निश्चय करके उसमें प्रवृत्त होना चाहिए। अन्यथा मंत्र योग, राजयोग आदि का अभ्यास करना चाहिए जिससे पतन न हो।

।। श्री रामलाल प्रभवे नमः।।

करुणानिकेतन गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का 113वाँ प्राकट्य दिवस 25 अक्टूबर 2020 दिन रविवार को मनाया जायेगा। तब तक जैसी स्थिति होगी सब को बता दिया जायेगा। भीड़ कम हो यह प्रयास भी रहेगा ताकि कोरोना संक्रमण का भय न रहे। सभी गुरुभक्तों को गुरुदेव के पावन जन्मोत्सव पर हार्दिक बधाई एवं शुभकामनायें।

भवदीय
संपादक सिद्धयोग
आचार्य दासलाल जी महाराज
श्री सिद्ध गुफा सवांई,
आगरा।

सम्पादकीय–

योगेश्वर सद्‌गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का 113वाँ पावन प्राकट्य दिवस

–योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

कभी–कभी धराधाम पर भगवान् से 'तद्‌भाव' युक्त महापुरुष अवतरण करते हैं तथा भगवान् के संस्कारी जीवों का कल्याण करने के लिए योग के दिव्य ज्ञान का उपदेश कर उन्हें साधना के पथ पर लगाकर मुक्ति का अधिकारी बना देते हैं। ऐसे ही एक महापुरुष हरियाणा प्रान्त के एक छोटे से गाँव में अवतरित हुए हैं जो युगों–युगों तक भक्तों के लिए स्मरणीय रहेंगे। गाँव अलुपुर में इनका प्रादुर्भाव हुआ। अपने भावी पिता को अपने आगमन का संकेत दिया था और कहा था कि मेरी माँ को दिव्य रसायनों का सेवन कराना। अपने ध्यानयोग के बल से पूर्व जन्म का वृत्तान्त जान लिया था। नेपाल में 'गण्डकी नदी पर स्थित 'त्रिवेणीधाम'' में रहकर बहुत समय तक समाधि का अभ्यास करते हुए शरीर के अत्यन्त वृद्ध होने पर अपनी इच्छा से उसका त्याग करके इस जन्म के पिता पूज्य पं. देवीराम जी के यहाँ नूतन शरीर धारण किया। शैशवावस्था से ही अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र का साक्षात्कार बना रहता था। नाना प्रकार की बाल–लीलाओं को करते हुए अत्यन्त आल्हादित रहा करते थे। इनके सौम्य व आनन्ददायिनी रूप को देखकर 'पिताश्री' ने इनका नाम 'चन्द्रदत्त' रखा। ये अपने भक्तों को शीतलता व शान्ति प्रदान करने वाले महापुरुष के रूप में विख्यात हुए।

पिता ने इन्हें बाल्यकाल से ही ऊँचे संस्कार दिये। पिताजी स्वयं अत्यन्त धार्मिक विचारों वाले तथा तपस्वी महापुरुष थे। इन्हें ये 4–5 वर्ष की अवस्था में ही गाँव के पास नहर पर ले जाकर स्नान कराते तथा अपने साथ ही गायत्री मंत्र के जाप से बिठा देते थे। प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था घर पर ही कर दी थी। तत्पश्चात् हरियाणा व पंजाब के कई विद्यालयों में अध्ययन कराते रहे। अन्त में ऊँची शिक्षा के लिए इन्हें पंजाब के लाहौर में आचार्य विश्व–बन्धु जी के संस्कृत महाविद्यालय में प्रवेश दिलाया। आचार्य जी बड़े ही विद्वान तथा तपस्वी

धर्मात्मा महापुरुष थे। यहाँ पर कई वर्षों तक संस्कृत का अध्ययन किया। किन्तु भगवान श्री कृष्ण चन्द्र जी इन्हें बार–बार आकर्षित करते रहे। अन्ततोगत्वा वैराग्य की लहरें उमड़ने लगी। विद्यालय छोड़कर श्री वृन्दावन धाम आ गये और भगवान के दिव्य लीला स्थलों व मन्दिरों के दर्शन करते हुए आनन्दित होते रहे। भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी की कृपा से अल्पायु में ही योग योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के दर्शन प्राप्त किये और योग मार्ग में प्रवेश कर समाधि में लीन रहने लगे। ऋषिकेश आश्रम में रहते हुए वैराग्य के भाव दृढ़ होने लगे। अब आप प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग में आरूढ़ होने का विचार बनाने लगे। किन्तु अन्तर्यामी श्री प्रभुजी ने इन्हें ठीक मौके पर जाने से रोक दिया। एक पत्र में उन्होंने लिखा था 'चिरंजीव! हम बस्तियों में रहकर योग विद्या का प्रचार कर रहे हैं और तुम जंगलों में जाने की तैयारी कर रहे हो। यह तुम्हारे लिये उचित नहीं है। अभी हमने तुमसे बहुत काम लेना है। अतः हिमालय की ओर जाने का विचार त्याग कर हमारी आज्ञाओं का पालन करो।' अपने गुरुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए वनों में जाने का विचार त्याग दिया।

श्री प्रभुजी की आज्ञा से योग पिपासुओं को 'शक्तिपात दीक्षा प्रणाली' से दीक्षा देने लगे। साधकों में अद्भुत रहस्यमयी क्रियायें स्वतः होने लगी। ध्यान की ऊँची–ऊँची स्थितियाँ प्राप्त होने लगीं। गुरुदेव शिष्यों का एक बड़ा झुण्ड इकट्ठे करने में रुचि नहीं रखते थे न ही प्रचार के माध्यमों से ख्याति चाहते थे। योग जिज्ञासु के धैर्य एवं श्रद्धा को परख कर कई वर्षों के बाद योग दीक्षा प्रदान करते थे। वस्तुतः अच्छे संस्कार युक्त साधक ही योग में आगे बढ़ पाते हैं। जिनके अच्छे संस्कार नहीं हैं शक्तिपात के बावजूद भी उनका पतन देखा गया। ऊर्वरक भूमि में बीज खाद डालने पर ही उत्तम फसल हो सकती है। ऊसर भूमि में डाला गया बीज अंकुरित नहीं हो पाता। मन्द संस्कारी व्यक्ति कदाचित् गुरुचरणों तक पहुँच भी जाये तो वहाँ भी उसे माया के ही दर्शन होते हैं। फलतः श्रद्धा बन नहीं पाती। उत्कृष्ट संस्कारवान व्यक्ति को गुरुदेव स्वतः ही खींच लेते हैं अपनी व्यापक सत्ता का परिचय देते हुए स्वप्न या ध्यान में दर्शन दे जाते हैं। साधक दिव्य दर्शन पाकर आनन्दित रहने लगता है धीरे–धीरे प्रभु का चरण शरण मिल जाता है। सद्गुरु चरण मिल जाने पर साधक आत्म विभोर हो उठता है। जन्मों से उसे जिस वस्तु की तलाश थी वह उसे मिल जाती है। उसे अब सब कुछ मिल गया। 'भुक्ति–मुक्ति प्रदातारम् तस्मै श्री गुरवे नमः' गुरुदेव तो सांसारिक भोग्य वस्तु भी प्रदान करते हैं उसे मुक्ति भी दे देते हैं। गुरुदेव जब 18–20 वर्ष के ही थे

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ।।

योग योगेश्वर अनन्त श्री विभूषित चन्द्रमोहन जी महाराज

उस समय ही आपको चित्त निर्माण आदि सिद्धि स्वायत्त थी अगद्‌वत्ता के प्रसंग में आपने स्वयं ही इस तथ्य का उद्‌घाटन किया है। श्री प्रभुजी ने गुरुदेव से एक बार कहा था—तुम्हें श्री वृन्दावन धाम के वास के समय ही 'प्रभु' ने सारी शक्तियाँ दे दी हैं अतः तुम योग विद्या के प्रचार में लग जाओ।

सन् 1938 में श्री महाप्रभु जी के तिरोधान के बाद श्री गुरुदेव जी श्री सिद्धगुफा सवांई धाम के दर्शनों के लिए आये। नितान्त एकान्त व सुरम्य स्थान को देखकर आनन्दित हो गये। स्थान की दिव्य छटा को देखकर आपने अपने योग प्रचार के कार्य के लिए इसे ही कार्यक्षेत्र चुन लिया। साधकों को शक्तिपात दीक्षा प्रदान की। रोगी व्यक्तियों को अपने नेति धोति आदि षट्‌कर्म क्रियाओं का अभ्यास कराया एवं जीवन तत्त्व साधन की क्रियाओं को कराना प्रारम्भ किया। इन क्रियाओं का अद्‌भुत लाभ मिलने लगा। सभी बीमार जो असाध्य से असाध्य भी आते गुरुदेव के संकल्प से स्वस्थ होकर ही घर लौटते थे।

ध्यान योग की दीक्षा संस्कारी साधक स्वयं चमत्कारिक तरीके से आकर लेते। इनमें रघुनन्दन प्रसाद टाट वाला का नाम उल्लेखनीय है। भगवान् शिव की आज्ञा से वे गुरुदेव से योग दीक्षा लेकर साधना में लगे। तीव्र तपश्चर्या एवं गुरु भक्ति के फलस्वरूप वाक्‌सिद्धि एवं दिव्य दृष्टि जैसी सिद्धियाँ प्रकाशित होने लगीं। इसी प्रकार से जम्मू कश्मीर का संसार सिंह दिव्य दृष्टि सम्पन्न योगी हुए हैं। कई गुमनाम साधक कन्दराओं में साधनारत हैं। पाकिस्तान की सीमा पर गुलमर्ग–खिलमर्ग की तरफ गुरुदेव का एक शिष्य साधु रहा करता था। एक बार वाराणसी के गुरुभाई प्रमोद एडवोकेट और विन्ध्यवासिनी भाई उस क्षेत्र में घूमने गये तो अचानक वह योगी इनके सामने आकर 'जयगुरुदेव' कहने लगा। यह आश्चर्य में पड़ गये। इस नितान्त जंगल में यह कौन हो सकता है। उस साधु ने कहा—मैं श्री योगिराज चन्द्रमोहन जी महाराज का शिष्य हूँ। उनकी आज्ञा से साधना में लगा हुआ हूँ। वे मेरी हर प्रकार से रक्षा करते रहते हैं। उस साधु ने गद्‌गद् कण्ठ से गुरुदेव की शक्ति व महिमा का गुणगान किया।

आपने कई प्रान्तों में योग आश्रमों की स्थापना की। वहाँ पर निःशुल्क योग की क्रियायें, आसन, प्राणायाम आदि सिखाये जाते हैं और बीमार व्यक्ति साधन से स्वस्थ होकर योग की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। योग विद्या को गुरुदेव ने कभी बेचा नहीं अर्थात् कभी फीस नहीं ली गई। नेति आदि भी निःशुल्क दिये व सिखाये जाते थे। आज भी वही परम्परा चल रही है। 'सन्तु सन्तु निरामयाः' की भावना को गुरुदेव ने हमेशा सामने रखा है।

अपने देश में कई राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन हुए हैं उनमें कई बार इनकी अध्यक्षता रही है। 1986 में भी विश्व योग सम्मेलन में आप साधना–सत्र के अध्यक्ष थे। आप श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ योगी रहे हैं यही कारण है कि सैद्धान्तिक और अन्तरंग योग के ज्ञाता होने के कारण आपकी छवि व व्यक्तित्व अन्यों से विशिष्ट होती थी। योग के दुरूह सिद्धान्तों को आप बहुत ही सरल सुबोध भाषा में बता कर योग सिद्धान्तों को साधकों में कूट–कूट कर भर देते थे। योग के सिद्धान्तों को सरल ढंग से समझाने के लिए आपने 'योग सिद्धान्त' नामक यौगिक पुस्तक के दो खण्ड प्रकाशित कराकर योग साधकों का बड़ा ही उपकार किया है। धन संग्रह का आपका कभी उद्देश्य नहीं रहा। चन्दा या फीस के आप हमेशा विरोधी थे। आप कहा करते थे—यहाँ आश्रम में जो कुछ भी है तुम लोगों का 'तुम लोगों के लिए ही है। हमारा इसमें कुछ भी नहीं है। हम तो निमित्त मात्र हैं श्री प्रभुजी ही करण कारण हैं।'

इस प्रकार से गुरुदेव निःस्पृह भाव से ही कर्म करते थे। अपने शिष्यों के लिये आप कल्पतरू हैं, उनके चरण तल में बैठकर जो भी कामना की जाती है सभी पूरी होती है। 'प्रणमामि गुरुम् गुरु कल्पतरूम्' कल्प वृक्ष रूप गुरुदेव को हम सदा ही नमस्कार करते हैं। आपके चिन्तन मात्र से जीवन की कठिनाइयाँ व दुःख दूर हो जाते हैं। आप अपने शिष्यों की अज्ञानग्रन्थि का भेदन करने वाले हैं इसलिए ही संसार में आप सर्ववन्द्य होते हैं।

योग शब्द शक्ति का पर्याय है। जो अपने जीवन को योगमय बना लेता है उसी का जीवन दिव्य बन जाता है। तन, मन व बुद्धि की शुद्धि योग साधना से हुआ करती है। आत्म–साक्षात्कार का प्रमुख साधन योग को ही माना गया है। आज गुरुदेव के लाखों शिष्य–प्रशिष्य योग साधना में आरूढ़ हैं और उज्जवल व दिव्य जीवन की ओर अग्रसर हैं।

करुणामूर्ति श्री गुरुदेव का 113 वाँ प्राकट्य दिवस उनके सभी आश्रमों में विजयादशमी के दिन बड़े ही धूमधाम से मनाया जा रहा है। इस परम पावन वेला पर गुरुदेव के पावन चरणों में सभी शिष्यों का कोटि–कोटि नमन है।

श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्या

—डॉ. विजय सिंह

भगवान श्रीकृष्ण की कृपा पाकर महाराज मुचुकुन्द संशय–संदेह से मुक्त हो, वे अपना चित्त श्रीकृष्ण में लगाकर गंध–मादन पर्वत पर जाकर भगवान की आराधना तपस्या के द्वारा करने लगे।

कालयवन को भस्मीभूत कराकर जब भगवान मथुरा पहुँचे तो मलेच्छ सेना का सम्पूर्णता से संहार किया। उसी समय अठारहवीं बार तेइस अक्षौणी सेना लेकर जरासन्ध आ धमका। भगवान श्रीकृष्ण एवं बलराम जी मानवी लीला करते हुये जरासन्ध के सामने से बड़ी वेग से भाग खड़े हुये। जरासन्ध ने रथ से उनका पीछा किया परन्तु वे दोनों भाई प्रवर्षण पर्वत पर चढ़ गये। जरासन्ध ने उन्हें बहुत ढूँढ़ा परन्तु नहीं पाकर पर्वत को चतुर्दिक आग लगवा दिया। इधर भगवान श्रीकृष्ण और बलराम जी द्वारकापुरी चले आये। अध्याय बावन में आनर्त देश के राजा रैवत ने ब्रह्मा जी की प्रेरणा से अपनी पुत्री रेवती का ब्याह बलराम जी से किया। विस्तार से यह कथा नवम् स्कन्ध में कही जा चुकी है।

भगवान श्रीकृष्ण भी स्वयंवर में आये शिशुपाल, शाल्व तमाम् नरपतियों के सामने भीष्मक की कन्या रुक्मिणी को हर लाये और राक्षस विधि से उनके साथ विवाह किया। रुक्मिणी जी का बड़ा भाई रुक्मी भगवान श्रीकृष्ण से बड़ा द्वेष रखता था। उसने एक अक्षौणी सेना लेकर भगवान श्रीकृष्ण का पीछा किया। भगवान ने योद्धाओं का संहार कर रुक्मी को मारने के लिये जब उद्यत हुये, उस समय भय से डरी हुई रुक्मिणी जी अपने प्रियतम् पति भगवान श्रीकृष्ण के चरणों पर गिरकर करुण–स्वर में बोलीं।

आप देवताओं के भी आराध्य देव, जगत्पते, योगेश्वर हैं। आपके स्वरूप को कोई जान नहीं सकता। आप महाशक्तिवान परन्तु परम कल्याणकर्ता हैं। प्रभो! मेरे भाई रुक्मी को मारना आपके योग्य कार्य नहीं है–

योगेश्वराप्रमेयात्मन् देव–देव जगत्पते।
हंतुं नार्हसि कल्याण भ्रातरं मे महाभुज।।33।।

(अ. 54 स्कं. 10)

भय से थर–थर काँपते रुक्मी को जीवन–दान मिल गया। परन्तु उसकी दुष्टता के दण्ड स्वरूप उसकी मूँछ–दाढ़ी, और केश आधा मूड़कर कुरूप बना दिया। बलराम जी ने दयावश

उसे मुक्त कर दिया।

विदर्भ कुमारी रुक्मिणी जी को द्वारका लाकर भगवान ने विधिपूर्वक विवाह किया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित! कामदेव भगवान शंकर के त्रिनेत्र अग्नि में पूर्व ही भस्म हो गये थे। उन्हें रति विलाप करने पर शिवजी ने वरदान दिया था कि द्वापर में तुम भगवान श्रीकृष्ण के पुत्र रूप में शरीर प्राप्त करोगे। वे ही काम अब श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी के गर्भ से उत्पन्न हुये। उनका नाम प्रद्युम्न पड़ा। सूतिका गृह से शम्बासुर उन्हें उठा ले गया और समुद्र में फेंककर निश्चिन्त भाव से घर लौट आया। उसे पता था कि प्रद्युम्न के हाथों मेरी मृत्यु है।

इधर मछुओं ने एक बड़ी मछली पकड़ी उसे शम्बासुर के रसोइये को दे दिया। उसने मछली काटते समय एक सुन्दर दस दिन का बालक उस मछली के पेट से प्राप्त किया जिसे पालन हेतु शम्बासुर की दासी मायावती को दे दिया। मायावती ही कामदेव की पत्नी रति थी। उसके संदेह निवारणार्थ स्वयं नारद जी प्रकट हुये और मायावती को पिछला इतिहास याद दिला दिया। मायावती ने उचित ढंग से पालन किया। प्रद्युम्न बहुत थोड़े दिनों में जवान हो गये। मायावती चूँकि रहस्य जानती थीं अत: वह पति भाव से ही प्रद्युम्न जी की सेवा करती। प्रद्युम्न जी ने जब कहा—आप! मेरी माता हैं तब मायावती ने शम्बासुर द्वारा उनके हरण और पूर्व की कथा सविस्तार बतायीं।

मायावती ने प्रद्युम्न जी को महामाया नाम की विद्या सिखायी जो सब मायाओं का नाश कर देती है—

प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने।
मायावती महामायां सर्वमाया विनाशिनीम्।।16।।

(अ. 55 स्कं. 10)

आगे प्रद्युम्न जी के ललकारने से क्रोधित शम्बासुर ने बड़ी घनघोर मायावी विद्याओं का प्रयोग किया परन्तु श्री प्रद्युम्न जी ने उसके सभी आसुरी मायाओं को सत्वमयी महाविद्या द्वारा निवारण किया। अन्त में उसे मारकर अपनी पत्नी मायावती जो आकाश गमन करना जानती थी, अपने पति प्रद्युम्न जी को आकाशमार्ग से द्वारिकापुरी ले आयीं। रुक्मिणी जी ने देखा—यह कौन है? भगवान श्यामसुन्दर सी आकृति, बोल–चाल, चितवन कहीं यह हमारा बालक प्रद्युम्न तो नहीं है क्योंकि मेरा स्नेह इसके प्रति बालक–सा उमड़ रहा है।

भगवान श्रीकृष्ण सब कुछ जानते हुये अनजान बने चुपचाप रहे। इतने में श्री नारद जी वहाँ आये उन्होंने शम्बासुर द्वारा प्रद्युम्न का हरण से लेकर उसके वध की कथा सुनाई। देवकी, वसुदेव जी, श्रीकृष्ण, बलराम जी रुक्मिणी जी ने नवदम्पति का अभिनन्दन किया।

छप्पनवें अध्याय में श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित! सत्रजीत् ने श्रीकृष्ण पर झूठा

कलंक लगाया। फिर उस अपराध के मार्जन हेतु उसने स्वयं स्यमन्तकमणि सहित अपनी कन्या सत्यभामा का विवाह भगवान श्रीकृष्ण से कर दिया।

भगवान सूर्य का बड़ा भक्त सत्राजित था। उन्होंने उसे स्यमन्तकमणि दी थी। यह मणि प्रतिदिन आठ भार सोना देती थी। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–सत्राजित! तुम यह मणि राजा उग्रसेन को भेंट कर दो। परन्तु लोभवश उसने भगवान की आज्ञा का पालन नहीं किया।

एक दिन उसका भाई प्रसेन मणि पहन कर शिकार खेलने गया। एक सिंह द्वारा मारा गया। अन्ततोगत्वा ऋक्षराज जाम्वन्त को वह मणि प्राप्त हो गई। उस मणि को उन्होंने गुफा में ले जाकर अपनी बच्ची को खेलने के लिये दे दिया।

प्रसेन के न लौटने पर सत्राजीत ने भगवान श्रीकृष्ण पर लाँछन लगाया कि हो न हो उन्होंने ही प्रसेन जीत को मारकर मणि ले लिया है।

इस कलंक को मिटाने हेतु भगवान श्रीकृष्ण सम्मानित लोगों को साथ लेकर वन में गये। उन्हें प्रसेन एवं शेर का शव मिला परन्तु मणि वहाँ नहीं थी। ऋक्षराज के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुये पर्वत की उस गुफा पर आकर लोगों को बाहर ही बैठाकर अकेले घोर अन्धकार पूर्ण गुफा में प्रवेश कर गये। वहाँ एक मनुष्य को देख क्रोधित जाम्वन्त उन पर टूट पड़ा। बड़ी घनघोर लड़ायी हुई। लड़ायी अठाइस दिन चलती रही। भगवान श्रीकृष्ण के प्रहार से जाम्बवान पसीने से लथ–पथ पस्त हुआ बोला–प्रभो! मैं जान गया आप ही पुराण पुरुष विष्णु हैं। आप विश्व के रचयिता ब्रह्मा को भी बनाने वाले हैं। आप ही राम जी हैं।

श्रीकृष्ण जी ने कहा–ऋक्षराज! हम मणि के लिये ही तुम्हारी गुफा में आये हैं। इस मणि के द्वारा अपने पर लगे झूठे कलंक को मिटाना है। जाम्बवती कन्या मणि सहित जाम्बवान ने श्रीकृष्ण को समर्पित कर दिया। इधर बारह दिन व्यतीत होने पर गुफा के बाहर वाले लोग द्वारिका लौट गये। सभी द्वारिकावासी सत्राजीत की भर्त्सना करने लगे तथा भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति हेतु महामाया दुर्गादेवी की उपासना में लग गये। उनकी उपासना से प्रसन्न हो दुर्गा देवी ने आशीर्वाद दिया, उसी समय भगवान श्रीकृष्ण मणि व जाम्बवती के साथ प्रकट हो गये।

उग्रसेन महाराज की सभा में सत्राजीत बुलवाया गया और सब कथा बताकर श्रीकृष्ण ने वह मणि उसे सौंप दिया। लज्जित सत्राजीत मणि लेकर पश्चाताप् से पीड़ित घर पहुँच कर सोचने लगा कि मैं ऐसा क्या करूँ कि मेरे अपराध का मार्जन हो तथा श्रीकृष्ण की प्रसन्नता मिले। उसने अपनी कन्या सत्यभामा और स्यमन्तकमणि दोनों श्रीकृष्ण को भेंट करने का निश्चय किया। भगवान श्रीकृष्ण ने विधिपूर्वक सत्यभामा का पाणीग्रहण किया परन्तु मणि लेने से इन्कार करते हुये भगवान ने सत्राजीत से कहा–आप सूर्य भगवान के भक्त हैं। मणि आप ही रखिये। हम तो केवल उसके फल के (सोने) अधिकारी हैं। वही हमें दे दिया करें।

नाम का अभ्यास करो

श्री विष्णुप्रसाद व्यास

"मनुष्य का अपना मैला मन और अजित इन्द्रियाँ ही सत्य का दर्शन करने में रुकावट का कारण बनती हैं। नाम के अभ्यास से जब मन निर्मल होगा और इन्द्रियाँ भी वश में आ जायेंगी, तभी परमेश्वर का दर्शन हो सकेगा और ध्यान सत्य में समा जायेगा।"

प्रत्येक मनुष्य सच्ची प्रसन्नता और प्रसन्न जीवन चाहता है, किन्तु सन्मार्ग के न मिलने से वह भटकता रहता है। परिणाम यह होता है कि उसे जाना किधर होता है और भ्रमवश मनुष्य किसी और ही दिशा में चल पड़ता है। अब आप ही विचार करो कि किसी को जाना तो हो पूर्व की ओर पग बढ़ाये पश्चिम की तरफ तो अपने लक्ष्य स्थान को कैसे प्राप्त कर सकेगा? वह तो लक्ष्य से दूर ही होता जायेगा। जबकि मानव का उद्देश्य था कि मैं सच्चा सुख प्राप्त करूँ, परन्तु विपरीत चलने के कारण वह आनन्द से दूर से दूरतर होता जायेगा। वह झंझटों में ज्यों–ज्यों उलझता जायेगा। ऐसा सुन्दर जन्म पाकर भी यदि जीव ने दुःख क्लेशों से छुटकारा न पाया तो फिर यह काम कब और किस जन्म में करेगा?

विधि का विधान है कि दूरस्थ देशों के यात्री जब किसी यात्रा में होते हैं तो जहाँ भी मार्ग फूटता है वहाँ पर लगे हुए साइन–बोर्ड को पढ़कर वे सही मार्ग पर कदम रखते हैं या किसी जानकार से पता लेने पर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। इसी तरह आत्मिक पथ पर भी चलने वालों को आवश्यक है कि सन्त सत्पुरुषों की वाणी या उनके रचे ग्रन्थ साइन–बोर्ड के समान पथ–प्रदर्शन करते हैं, उनकी सहायता लेकर चलें या फिर जो सन्त सत्पुरुष हैं वे इस आत्मिक मार्ग के पूर्णतया ज्ञानी हैं, उनकी आज्ञा और संकेतों पर चलें, यही साधन सही है अपने जीवन लक्ष्य पर पहुँचने का।

सन्तों का 'नाम' से स्नेह है। नाम का निवास सन्तों के हृदय में है। वे सुपरिचित हैं–वही ईश्वर से मिलने की राह बताते हैं। जो भाग्य रूपी अपनी अहन्ता को छोड़कर उनसे सत्य का मार्ग पूछता है, वे उसे सही मार्ग बताते हैं। उनके नेतृत्व के बिना कोई कितना भी जप, तप, व्रत, नियम और तीर्थ इत्यादि करे, किन्तु नाम जो वास्तविक है, उससे उसकी भेंट कदापि न हो सकेगी। यह सन्तों का बताया हुआ नाम ही था, जिसने वाल्मीकि को डाकू से ऋषि बना दिया और उसी नाम ने ही रामरती के कलुषित मन को धोकर पवित्र और उज्ज्वल बना दिया। जहाँ नाम के प्रताप से वे दोनों पहुँच गये, वहाँ तीर्थ, व्रत आदि करने वाले करोड़ों में से एक भी न पहुँच पाया। नाम की सम्पत्ति सन्त सद्गुरु के हाथ में है, जिसे वे अपनी कृपा

से प्रदान करें वही समृद्धिशाली हो जाता है। कोई बलपूर्वक यह सम्पदा उनसे छीन नहीं सकता, एक पुराना किस्सा याद आ गया–

एक दरिद्र प्रेमी एक महात्मा जी की प्रतिदिन सेवा–सुश्रूषा किया करता था। एक दिन महात्मा के पैर वह प्रेमी दबाने लगा। सेवा करते–करते उसे दोपहर हो गई। महात्माजी ने उससे कहा कि प्रेमी! तुम घर जाकर भोजन कर लो। उसने उत्तर दिया कि महात्मा जी! हम गरीब आदमी हैं–आज घर में खाने–पीने को कुछ भी नहीं है। यहाँ आपकी सेवा में व्यस्त रहने से मुझे भूख–प्यास नहीं सताती, अपितु बड़ा आनन्द आता है, सो घर जाकर क्या करूँगा?

यह सुनकर महात्मा जी ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरा तो एक बाल उनके हाथ में आ गया, वही बाल उस प्रेमी के हाथ में देकर कहा–जिस पेटी में तुम रुपये–पैसे आदि रखते हो, उसी में इसे डाल देना, तुम्हारी वह सन्दूक कभी खाली न होगी, चाहे उसमें से कितना भी व्यय क्यों न करो? अच्छा अब तुम घर जाओ।

वह गरीब प्रेमी घर पहुँचा। ज्यों ही उस बाल को उसने पेटी में रखा, वह एकदम रुपये–पैसों से भर गई। चाहे जितनी रकम वह खर्च करता, परन्तु वह पेटी फिर भर जाती। उसकी आर्थिक दशा को सुधरता हुआ देख कर उसके पड़ौसी साहूकार ने एक दिन उससे पूछा कि आजकल तो तुम बड़ा खर्च करते हो? क्या तुम्हें कोई गुप्त खजाना हाथ लग गया है? यह क्या माजरा है?

उस दरिद्र ने उत्तर दिया कि मेरी निर्धनता तो किसी से छुपी नहीं है, किन्तु सब प्रताप तो उस बाल का है जिसे मुझ पर प्रसन्न होकर अमुक सन्त ने मुझे दिया है। उनकी सेवा–सुश्रूषा करने के लिए मैं हर रोज जाता हूँ। सेठ ने जब यह वृत्तान्त सुना, उस पर लालच का भूत सवार हो गया। बगल में कैंची दबाकर उस महात्मा के पास आया और उनकी चरण–सेवा करने लगा। जब महात्मा जी की तनिक आँख लगी उसने तुरन्त ही उनकी सारी दाढ़ी मूढ़ ली। घर में जाकर उसने जितनी भी धन–माल की पेटियाँ उसके पास थीं सब में दो–दो चार–चार बाल डाल दिये। कुछ देर बाद जब उसने पेटियों के अन्दर देखा तो एकदम स्तब्ध रह गया।

वहाँ धनैश्वर्य के स्थान पर सबकी–सब पेटियाँ दाढ़ियों से भरी हुई हैं। जो धन–राशि उनमें पहले विद्यमान थी, वह भी ओझल हो चुकी थी। अब वह बहुत रोया और हाथ मल–मलकर पछताने लगा।

सन्त जब नींद से उठे, अपनी दाढ़ी को साफ देखकर उस प्रेमी को बुलाकर पूछा कि तूने किसी से हमारे बाल देने की बात कही थी? हरि प्रेमी ने सारी बात सच–सच कह सुनाई।

महात्मा जी ने उसे परम सन्त श्री कबीर जी की साखी सुनाकर भविष्य के लिए सतर्क किया कि–

दोहा–

कबिरा भेद न दीजिए, यह जग बुरी बलाय।
लिए कतरनी कांख में, करै मित्रता घाय।।

हर किसी को अपने मन का भेद न बताओ क्योंकि प्रत्येक का दिल विमल नही होता। उनमें कपट भरा रहता है। इसलिए उलटी उनकी ही हानि होती है। अभी तुमने जिसको यह बात बताई है उसकी बड़ी क्षति हो गई। परलोक को तो वह बिगाड़ ही बैठा, इस लोक में भी धनी से निर्धन बन गया। उसने समझा शायद बालों में ही शक्ति है परन्तु उसे यह विदित न था कि वास्तविक शक्ति सन्तों की मस्ती में होती है।

सत्पुरुषों के कथनानुसार भक्ति का सिद्धान्त यह है कि गुरु महाराज जो आज्ञा करें उसे तन–मन से पूर्ण करो उनके वचनों को कार्यान्वित करो परन्तु वे जो कुछ करें उसका अनुसरण कदापि मत करो। भाव यह कि उनकी करनी को मत देखो। उनके कहने पर चलो उदाहरण के रूप में–

कोई रोगी है जिसे डॉक्टर ने खान–पान से परहेज बताया है। वह डॉक्टर को वही वस्तुएँ खाता हुआ देखकर यदि वैसा ही खाने–पीने का लालच करे तो उसे बुद्धिमान नहीं कहा जायेगा। इसी तरह आत्मिक मार्ग में भी गुरु–आज्ञा के अनुसार चलने में ही भलाई है। साधक को यह सुगम होगी तो केवल उसी साधन से होगी।

स्पष्ट है कि सन्तों की कृपा की तुलना में दुष्प्रवृत्ती के किये हुए करोड़ों धर्म और कर्म, जप–तप आदि भी कोई सत्ता नहीं रखते। जैसे सन्तों की कृपा से दिये हुए एक बाल के सामने बलपूर्वक छीने हुए सैकड़ों बाल भी कुछ लाभ न पहुँचा सके अपितु उलटा हानिकारक सिद्ध हुए। सन्तों के द्वारा प्रदान किये हुए नाम का जो प्रताप है वह दुष्प्रवृत्ति से नाम जपने में कदापि नहीं।

नाम का एक–एक कण मानव को सन्मार्ग दर्शा देता है। मैले मन के मैल को धोकर उसे परिष्कृत कर देता है। चंचल और स्वाधीन इन्द्रियों को निश्चल और वशीभूत कर देता है। भिखारी से राजा बना देता है। मनुष्य की हार्दिक कामना पूरी हो जाती है। वस्तुतः वही मनुष्य अपने जन्म का पूरा मूल्य जानता और प्राप्त करता है, जो नाम की कमाई करता है। अन्यथा नाम के बिना तो मनुष्य का एक कौड़ी भी मूल्य नहीं है। तभी श्री गुरु महाराज जी प्रायः कथन किया करते हैं कि यदि कोई लाख दो लाख या करोड़ दो करोड़ की हानि होती तो हम तुम्हें भक्ति करने और नाम जपने के लिए इस तरह कभी विवश न करते परन्तु यहाँ

तो अपरिमित हानि है जिसकी तुम्हें कल्पना भी नहीं हो सकती। जिसके मूल्य की कल्पना रुपयों से तो क्या हीरे–जवाहररात के ढेरों से भी नहीं की जा सकती। तुम्हारी इतनी अगणित हानि देखकर हम चुप नहीं रह सकते। हम व्याकुल हो उठते हैं और तुम्हें सावधान करने के लिए हाथ बढ़ाना ही पड़ता है।

सत्य है कि रामायण में गोस्वामी तुलसीदासजी ने सन्तों के सम्बन्ध में जो लिखा है वह सर्वथा सत्य है उनका हृदय माखन से भी कोमल होता है–

सन्त हृदय नवनीत समाना।
कहा कलियन पर कहा न जाना।।
निज परिताप द्रवइ नवनीता।
पर दु:ख द्रवहिं सन्त सुपुनीता।।

–श्रीरामचरितमानस उ. का.

सन्तों के हृदय की कलियों ने नवनीत से तुलना की है; वस्तुतः वह माखन से भी मृदुल है। माखन तो तभी पिघलता है जब उसे आँच दिखाई जाय–किन्तु सन्त–सत्पुरुषों का हृदय तो दूसरों को दुःखी देखकर ही पसीज जाता है। उनकी कोमलता का उदाहरण तो विश्व में सुदुर्लभ है। ऐसे दयालु सन्तों की शरण में जाकर जो लोग अपना आत्मिक कार्य कर लेते हैं वे बड़े भाग्यशाली हैं। परन्तु नादान संसारी लोग उसी को भाग्यवान कहते हैं जिसके पास सांसारिक मान प्रतिष्ठा, धन–माल या सन्तान इत्यादि माया के सामान विद्यमान हों। इन पदार्थों को पाकर मनुष्य क्या भाग्यशाली बन जाता है? नितान्त भ्रम है–इन वस्तुओं में कोई नित्य सुख नहीं–आत्मिक प्रसन्नता नहीं है। संसार का ठाट–बाट सब अस्थायी है। विवेकशील लोग इन चीजों पर कभी अभिमान नहीं करते संसार के मद में चूर होकर यादवों ने सन्त दुर्वासाजी से परिहास किया तो उसका परिणाम भीषण निकला।

दर्पान्त यादव सन्तों पर विश्वास न रख कर उनसे ठगी करने लगे। एक लड़के के पेट पर कपड़ा बांधा और उसे स्त्रियों का वेष पहना कर दुर्वासा जी के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया–बतलाइये "ऋषि जी! इस औरत के पेट से लड़के का जन्म होगा या लड़की का?" ऋषि ने उन्हें सब तरह से उपहास करने से रोका और सन्तों से शिष्टता दिखाने की शिक्षा दी। उन्हें मौन होकर लौट जाने को कहा, किन्तु उनके सिर पर तो अहंकार का भूत सवार था, वह कब इन्हें सुमार्ग पर चलने देता। सब लड़कों ने यही कहा कि इतने बड़े ऋषि कहाते हो। क्या इतना भी नहीं बता सकते कि इसके पेट से क्या उत्पन्न होगा? ऋषि के समझाने–बुझाने पर भी जब वे आग्रह पर अड़े रहे तो विवश होकर ऋषि के मुख से निकला कि इससे वह चीज पैदा होगी, जिससे तुम्हारे वंश का नाश हो जायेगा।

"योग में ब्रह्मचर्य"

—डॉ. जे. पी. शर्मा, पाँटा साहिब, जि. सिरमौर, हि. प्र.

हमारे पूर्वजों ने मनुष्य के जीवन को चार भागों में बाँट रखा है। जीवन के सर्वप्रथम भाग को ब्रह्मचर्य, दूसरे भाग को ग्रहस्थ, तीसरे को वानप्रस्थ तथा चौथे भाग को सन्यास कहा जाता है। जन्म से पच्चीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य? पचास वर्ष तक की आयु तक गृहस्थ, पिचहत्तर वर्ष की आयु तक वानप्रस्थ तथा पिचहत्तर से ऊपर सन्यास माना जाता है। श्री मनुमहाराज ने ब्रह्मचर्य के बारे में कहा है--

''अविप्लत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्''

अविप्लुत ब्रह्मचर्य से मतलब है अखंडित ब्रह्मचर्य अर्थात् कभी भी गृहस्थ आश्रम धारण ही न करें। जैसे पेड़ की जड़ अपने मूल स्थान में रहकर स्थाई तथा शक्तिशाली रहती है उसी प्रकार शरीर के लिये मूल रूप में रहना आवश्यक है। कहा गया है--

''प्रासादस्य विनिर्माण मूलभित्तिरपेक्ष्यते।
तथैवजीवनस्यादौ तद्ब्रह्मचर्यमपेक्षते।''

अर्थात् शरीर का मूल, ब्रह्मचर्य ही होता है। ब्रह्मचर्य से शरीर चिरंजीवित्व बनता है। ब्रह्मचर्य का सीधा साधारण तात्पर्य है कि जो प्राणी ब्रह्म में विचरण करता है, उसे हम ब्रह्मचारी कहते हैं। ब्रह्म में विचरण का भाव है, ब्रह्म की प्राप्ति के लिये साधना करना। हर पल ब्रह्म में समाहित रहना, प्रतिक्षण ब्रह्म का ज्ञान रखना तथा क्षण-क्षण हर वस्तु में ईश्वर की अनुभूति करना आदि।

साधारणतः ब्रह्म के तीन मतलब होते हैं—ईश्वर, वेदज्ञान तथा वीर्य अथवा रज। इन्हीं के आधार पर ईश्वर का साक्षात्कार करना, वेदों का ज्ञान प्राप्त करना तथा अपने वीर्य या रज की रक्षा करना है।

''ब्रह्मज्ञानं तपो या अवश्यं।
आचरति अर्जयतिय: स ब्रह्मचारी।''

अर्थात् वेदादि-शास्त्रों के अध्ययन से ईश्वर ज्ञान प्राप्ति के लिये जो प्राणी अतिशय तपश्चर्या करता है अर्थात् मेहनत करता है तथा मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को सहन करता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

"**वीर्य धारणं ब्रह्मचर्य**" अर्थात् वीर्य का धारण करना ही ब्रह्मचर्य है। जो स्त्री-पुरुष अपने रज तथा वीर्य की रक्षा करते हैं, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। स्त्री जब अपने रज की रक्षा करती है तो उसे ब्रह्मचारिणी तथा पुरुष जब अपने वीर्य की रक्षा करता है, उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। मानव के जीवन में ब्रह्मचर्य की अति आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य जीवनी शक्ति का केन्द्र बिन्दु होता है। इसकी महिमा के बारे में कहा गया है—

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।।"

अर्थात् ब्रह्मचर्य पालन से शरीर में शक्ति आती है। शरीर कान्तिमान बनता है। चेहरा ओजस्वी तथा आभामण्डल चमक उठता है। ब्रह्मचर्य की रक्षा राष्ट्ररक्षा कही गयी है। इसी कारण हमारे पूर्वजों ने मानव जीवन को चार आश्रमों में बाँटा था, जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास कहलाये गये हैं। ऋषि–मुनियों ने मनुष्यों में वीर्य को तथा स्त्रियों में रज को ब्रह्म कहकर पुकारा है। इन दोनों की रक्षा करने से ब्रह्म की प्राप्ति आसान हो जाती है। अपनी कर्मेन्द्रियों का जो संयम करता है, वह ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचर्य जीवन का काम से कोई सम्बन्ध नहीं होता। काम ब्रह्मचर्यता का कट्टर दुश्मन है। अतः जननेन्द्रिय पर संयम करना ही ब्रह्मचर्य होता है। कामवासनाओं पर पूर्णसंयम रखना ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ है। इससे ईश्वर मिलन, वेदाध्ययन तथा आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो उठता है।

"ब्रह्मचर्य का महत्त्व"

भारतीय सभ्यता के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठ माना गया है। प्रश्न उठता है कि ब्रह्मचर्य की जीवन में क्या आवश्यकता है? जन्म लेने के बाद बच्चा धीरे-धीरे बढ़ने लगता है तथा ग्यारह वर्ष की आयु तक उसे किशोर कहा जाता है। यह उसकी किशोरावस्था होती है। किशोर अवस्था से क्रमशः कुमार अवस्था प्राप्त करता है। मनुष्य के पूरे जीवन को चार भागों में बाँटा गया है। इन भागों को आश्रम कहा गया है। प्रत्येक आश्रम की अवधि पच्चीस वर्ष की होती है। जब कोई नया मकान बनाता है तब उससे पहले उसकी नींव रखी जाती है जो मकान का आधार होती है। उसी प्रकार मानव जीवन की नींव का नाम ब्रह्मचर्य है। नींव कमजोर रहने से मकान के गिरने का खतरा बना रहता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य खराब होने से शरीर रोगों का घर बन जाता है। रोगी शरीर किसी काम का नहीं होता। शरीर के भौतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास उसके ब्रह्मचर्य जीवन के अनुरूप ही होते हैं।

शरीर के विकास में कई तरह के तत्त्वों का योगदान रहता है जिसमें विशेष रूप से प्रोटीन की आवश्यकता पड़ती है। मानव के वीर्य में प्रोटीन प्रचुर मात्रा में होती है। इसी प्रकार औरतों के रज में प्रोटीन होती है। वीर्य का निर्माण प्रोटीन तथा पारे के सहयोग से होता है तथा रज में प्रोटीन के साथ–साथ गन्धक पाई जाती है। प्रोटीन भी न्यूक्लियोप्रोटीन के रूप में पाई जाती है। न्यूक्लियोप्रोटीन का शरीर के विकास में काफी महत्त्व होता है। इसी से शरीर धीरे–धीरे बढ़ता तथा विन्यास करता है। अतः अगर इस अवस्था में प्रोटीन कम पड़ जायेगी तो शरीर का विकास भी रुक जायेगा। शरीर में वीर्य की उपस्थिति अखण्डित रहेगी तभी शरीर पुष्ट होगा। इसी कारण शरीर में वीर्य तथा रज दोनों की रक्षा करना आवश्यक होता है। इसीलिये हमारे पूर्वजों ने मनुष्य के लिये शादी की आयु पच्चीस वर्ष तथा महिलाओं के लिये अठारह वर्ष रखी है। इससे ब्रह्मचर्य परिपक्व बन जाता है। प्राचीन भारत में कन्यायें भी ब्रह्मचर्य के द्वारा युवा पति का वरण करती थीं–

''ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्''।

ब्रह्मचर्य धारण से अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है। मानव अजर–अमर बन सकता है। देवताओं ने अजर अमरता ब्रह्मचर्य जीवन से ही प्राप्त किया है–

''ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।''

तात्पर्य है कि ब्रह्मचर्य के भय से मृत्यु भी सहसा मारने को तैयार नहीं होती है। ब्रह्मचर्य सदाचार का पहला सोपान है। धार्मिक पुस्तकों में ब्रह्मचर्य क्या है, उसके क्या लक्षण हैं? के बारे में लिखा है–

''ब्रह्मचर्य नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः।''

ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं जहाँ सभी अवस्थाओं में मन, वाणी तथा शरीर द्वारा सर्वत्र मैथुन त्याग हो। अतः ब्रह्मचर्यपालन करने से ब्राह्मणत्व बढ़ता है। ब्राह्मणत्व बढ़ने से ब्रह्मत्व प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य में तप तथा धैर्यशक्ति होती है। संसार में ब्रह्मचर्य यश का मूल होता है। ब्रह्मचर्य के बल पर कठिन से कठिन कार्य आसानी से किये जा सकते हैं। राम भक्त हनुमान ने ब्रह्मचर्य के बल पर देवत्व प्राप्त करके भगवान श्रीराम के कठिन से कठिन कार्य सम्पन्न किये थे। लंका का दहन करके रावण को निश्तेज कर दिया था। बाबा भीष्म पितामह ने अपने ब्रह्मचर्य के बल पर इच्छा मृत्यु का वरदान प्राप्त किया था। काम मोक्ष की प्राप्ति सुदृढ़ शरीर के बिना प्राप्त नहीं हो सकती तथा शरीर सुदृढ़ बनाने के लिये ब्रह्मचर्यपालन अति आवश्यक होता है। इससे मनुष्य प्रबल इच्छाशक्ति प्राप्त करता है। कमजोर तथा रोगी

मनुष्यों की इच्छाशक्ति क्षणिक होती है। यथा–

''नायमात्मा प्रवचनेनलभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन''

अर्थात् आत्मतत्व बलहीन व्यक्ति के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसीलिये भगवान श्रीकृष्ण जी महाराज ने ब्रह्मचर्य को शारीरिक तप कहा है–

''सुर भूसुर गुरु विदु सेवकाई। चित्त सरलता सुचिता लाई।
ब्रह्मचर्य गतहिंसा भावा। शारीरिक तप पार्थ कहावा।।''

(गीता 17/14)

अर्थात् हे अर्जुन! देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह सब शरीर सम्बन्धी तप कहे गये हैं। वीर्य धारण से शरीर को शक्ति प्राप्त होती है। शक्ति के बिना मनुष्य की कहीं भी कोई भूमिका नहीं रहती। कमजोर को कौन पूछता है? भगवान सदाशिव ने मानव कल्याणार्थ कहा है–

''मरणं विन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरूते बिन्दुधारणाम्।।''

विन्दु अर्थात् वीर्य के पतन से मानव मृत्यु के समान हो जाता है तथा बिन्दु या वीर्य के धारण करने से जीवन चलता रहता है। शरीर का सारतत्व वीर्य ही होता है। अतः इसकी रक्षा हर हालत में करनी ही चाहिये। मानव जीवन की सार्थकता वीर्यधारण से ही आंकी जाती है।

प्राचीन समय में पूर्वज दीर्घजीवी हुआ करते थे। वे अपने जीवन को सदाचार पूर्वक जीते थे। सन्ध्योपासना करते काफी समय बिताते थे। इसी कारण उनके मन में विकार उत्पन्न नहीं हो पाते थे। दीर्घजीवन जीने की कला ब्रह्मचर्य के कारण ही प्राप्त होती है। जैसे यज्ञों से देवता प्रसन्न रहते हैं, सन्तान उत्पन्न होने से पितर तृप्त होते हैं उसी प्रकार ऋषिगण तथा मुनिजन ब्रह्मचर्य धारण करने से तृप्त रहते हैं। ब्रह्मचर्य धारण करने से मुनियों का तर्पण होता है, ऐसा कहा गया है–

''ब्रह्मचर्येण मुनयो देवा यज्ञक्रियाऽध्वना।
पितरः प्रजया तृप्ता इति हि श्रुतिरब्रवीत्।।''

ब्रह्मचर्य एक व्रत है जो इसका पालन करता है उसे इसका फल प्राप्त होता है। यह मानव जीवन की आधारशिला है। इसके धारण करने से जीवन आसान हो जाता है।

पशु पक्षियों में भी प्राकृतिक रूप से ब्रह्मचर्य होता है। वे केवल ऋतुगामी होते हैं तथा

ऋतुकाल में ही कामोपभोग करते हैं। मानव इस जगत का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। उसे भी अपने व्रत का पालन करना ही चाहिये। मेरे पूज्य सद्गुरुदेव भगवान अपने प्रवचनों में बतलाया करते थे कि गृहस्थी भी ब्रह्मचर्य धारण कर सकता है। केवल ऋतुकाल में योग करे तथा सदैव सदाचार जीवन जीते हुये योगमार्ग का अनुसरण करे। ब्रह्मचर्यपालन में अष्टमैथुन से सदैव बचना चाहिये। अष्टमैथुन के बारे में कहा गया है–

''स्मरणं कार्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्य भाषणम्।

संकल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिष्पत्तिरेव च।।''

(1) पुरुषों के लिये स्त्रियों के तथा स्त्रियों के लिये पुरुषों के दर्शन करना अर्थात् देखना, (2) उन्हें स्पर्श करना, (3) स्मरण करना अर्थात् उनके बारे में विचार करना, (4) साथ–साथ खेलना, (5) साथ–साथ कीर्तन आदि करना अर्थात् उनके साथ बातें करना, (6) उनके बारे में विचारना, (7) उनके लिये प्रयत्न करना, तथा (8) संभोग करना–ये आठ प्रकार के मैथुन हैं। इनसे बचकर रहना ही अखण्ड ब्रह्मचर्य कहलाता है।

उपरोक्त प्रथम सात नियम बिल्कुल अक्षरशः सही हैं। रत्तीभर भी शंका की आवश्यकता नहीं है। विज्ञान की भाषा में पुरुष धनात्मक आयन हैं तथा स्त्रियाँ ऋणात्मक आयन होती हैं। आयन को आवेश भी कहा जाता है। विपरीत आवेशों में आकर्षण होता है। अतः जब विद्युत के धनावेश वाले तार को ऋणावेश वाले तार के साथ मिलाते हैं तब विद्युत पैदा हो जाती है। उसी प्रकार पुरुष तथा स्त्रियों में एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है। आवेश कम, ज्यादा हो सकता है। अतः आवेश ही काम वासना होते हैं तथा काम वासनायें सदैव ब्रह्मचर्य की शत्रु होती हैं।

काम बहुत प्रबल होता है। कामवासना कम या ज्यादा के हिसाब से हर जीव में विद्यमान रहती है। विपरीत लिंग के देखने, सुनने, स्पर्श करने, हंसने मात्र से जाग उठती है। काम वासना जागने से प्राणी काम के आवेश में आ जाता है। काम वासना, जानवर तो क्या मनुष्यों तक को अंधा बना देती है। काम के जागते ही शरीर में वीर्य का निर्माण होने लगता है। काम जागृत होने से वीर्य की उर्ध्वरेता धीरे–धीरे गिरने लगती है तथा ब्रह्मचर्य प्रायः खण्डित होने लगता है। विपरीत लिंगों में काम वासना होती है। परन्तु मनुष्यों में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है। कुछ लोग देखने, सुनने, स्पर्श करने आदि से काम वासना के जागृत होने को सही नहीं मानते। आइये इसे इस कथा से समझने का प्रयत्न करें।

एक बार श्री व्यासजी आश्रम में शिष्यों को अष्टमैथुन के बारे में समझा रहे थे तथा

सावधान कर रहे थे कि मनुष्यों को तथा स्त्रियों को एकसे दूसरे को सावधान तथा दूर रहना चाहिये। परन्तु उनमें से एक शिष्य को गुरुजी के उपदेश पर विश्वास ही नहीं हो रहा था। बार–बार समझाने पर भी वह समझ नहीं पा रहा था कि देखने, सुनने, स्पर्श करने,बातें करने इत्यादि से ब्रह्मचर्य कैसे खण्डित हो सकता है?

कुछ दिनों के उपरान्त गुरु श्री व्यासजी महाराज ने शिष्य को कहीं जाने का आदेश दिया तथा कहा कि अमुक स्थान पर अमुक व्यक्ति को सूचना देकर तुरन्त लौट आना। स्थान कुछ दूरी पर था तथा रास्ता जंगल से होकर जाता था। गुरुजी ने शिष्य को ऐसे समय भेजा जिससे उसका लौट कर आना असंभव था।

पूज्य गुरुवर का आदेश पाकर शिष्य सन्देश लेकर चल पड़ा। नियत स्थान पर नियत व्यक्ति को सन्देश देकर लौट रहा था। रास्ते में रात हो गई। रास्ता जंगल से होकर आता था। तेज आंधी–तूफान तथा बादल होने के कारण जंगल में रास्ता भटक गया। काफी प्रयत्न किये मगर असफल रहा। हवा भी ठंडी चल रही थी। रास्ता स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा था। कुछ समझ नहीं पा रहा था कि क्या करे? सहसा कुछ दूरी पर एक कुटिया दिखाई दी। सोचा अब तो रात को इसी कुटिया में विश्राम किया जाये। सुबह होने पर आश्रम चला जाऊँगा। पास जाकर देखा कि कुटिया सुरक्षित है तथा खाली है। वह कुटिया में बैठ गया। कुछ समय के बाद उसे किसी युवती के रोने की आवाज सुनाई दी। ध्यान से सुनने पर देखा कि एक सुन्दर गोरी युवती बैठी–बैठी रो रही है। पास जाकर युवती से रोने का कारण पूछा। सुन्दरी बोली कि वह अकेली है, रात हो गई है, तूफान भी आ रहा है तथा वर्षा हो रही है, उसे डर भी लग रहा है, इसलिये दुःखी है। ब्रह्मचारी शिष्य ने कहा ''आप चलकर कुटिया में विश्राम कर लीजिये।'' सुन्दरी ने कहा, उसमें तो आप ठहरे हुये हैं ऐसी स्थिति में, मैं भला कैसे रह सकती हूँ? तब ब्रह्मचारी ने कहा ''आप अन्दर कुटिया में आराम से रहें, मैं तो बरामदे में ही रह लूँगा। स्त्री कुटिया में पहुँच गयी। ब्रह्मचारी ने बाहर बरामदे में निकलते हुये स्त्री से कहा। आप अन्दर से दरवाजा बन्द कर लीजिये तथा अन्दर से कुण्डी लगा लीजिए। किसी भी सूरत में रात को दरवाजा न खोलिये, चाहे मुझे जंगली जानवर क्यों न खा जायें? इस तरह स्त्री ने दरवाजा अन्दर से बन्द कर दिया। वर्षा मन्द मन्द हो रही थी तथा ठण्डी–ठण्डी हवा भी चल रही थी। जंगल में घनघोर सन्नाटा छाया हुआ था। रात्रि अंधियारी थी। कभी–कभी जंगली जानवरों की आवाजें रात के सन्नाटे को चीरकर सुनाई दे जाती थीं। ब्रह्मचारी ने युवती की सुन्दरता को देखा था। उससे बातें भी की थी। उसके मन में तरह–तरह

के विचारों के गुब्बारे फूल फूल कर उड़ने लगे। मन ही मन अपने विचारों को स्वीकृति भी दे डाली। रात के अन्धकार तथा शीतलमयी हवा के झोंकों से काम शनैः शनैः जगने लगा। काम ने तुरन्त गति से अंगुली से पौंउचा पकड़ लिया। ब्रह्मचारी काम के आवेश में आ गया तथा सुन्दरी से मिलने के लिये व्याकुल हो उठा। उसने स्त्री से कहा "दरवाजा खोलो मुझे बहुत ठंड लग रही है।" युवती ने बड़े शान्त स्वर से कहा दरवाजा प्रातःकाल ही खुलेगा। शिष्य का मन चलायमान हो रहा था। उसने पुनः विनम्रता के साथ कहा "मुझे ठण्ड लग रही है तथा वर्षा भी हो रही है। इसलिये कृपया दरवाजा खोल दीजिये नहीं तो मैं ठंड के कारण मर ही जाऊँगा। स्त्री ने कहा "दरवाजा नहीं खुलेगा, आपने ही तो कहा था कि किसी भी सूरत में दरवाजा मत खोलना।" शिष्य का विवेक शून्य हो गया था तथा और कोई उपाय भी नहीं सूझ रहा था। अतः कुटिया के ऊपर चढ़ गया तथा अन्दर जाने के लिये छत को उखाड़ने लगा। जैसे ही ब्रह्मचारी छत को तोड़कर अन्दर कूदा, उसने देखा कि गुरुदेव व्यास जी महाराज आसन लगाये बैठे हैं। अपने पूज्य गुरुदेव को देखकर शिष्य सन्न रह गया। सुन्दरी तो वहाँ थी ही नहीं। सफेद दाढ़ी हिलाते हुये श्री गुरुदेव ने धीरे–धीरे आँखें खोलीं तथा बोले–बेटा क्या कर रहे हो? शिष्य का कामान्ध नशा अब उतर चुका था। उसने तुरन्त अपने गुरुदेव के श्रीचरण पकड़ लिये। क्षमा मांगते हुये बोला "गुरुदेव आप सत्य ही कहते थे। मेरा अज्ञान अब दूर हो गया है। आज से मैं आपके आदेशों का शत प्रतिशत पालन करूँगा। अतः योग पथ के साधकों को अष्टमैथुनों से यथोचित बचने का प्रयत्न करना ही चाहिये!

–काम जागृत होने के कारण–

मनु महाराज ने काम वासनायें जागृत होने के लिये आठ प्रकार के मैथुन बतलाये हैं। मनुष्यों में काम की जागृति दो कारणों से होती है–(1) आन्तरिक कारण (2) बाहरी कारण।

(1) **आन्तरिक कारण**–सामान्यतः चिकित्सा विज्ञान के अनुसार हर प्राणी की चार मूलभूत आदतें होती हैं जिनकी पूर्ति होने पर, दुबारा रति करने की आवश्यकता रहा करती है। अतः बार–बार पूर्ति करनी पड़ती है। जैसे–भूख, प्यास, नींद तथा काम वासना। मनुष्य भोजन करता है परन्तु फिर भूख लगती है तथा फिर भोजन करता है। सुबह चाय नास्ता लेने के बाद दोपहर को भोजन करता है। शाम को चाय नास्ता लेता है तथा कुछ देर बाद फिर रात का खाना खाता है। रात को खूब सोता है, पर दूसरी रात फिर नींद आती है। उसी प्रकार काम वासना की एक बार भूख शान्त करने के बाद पुनः काम की भूख जाग उठती

है। हर प्राणी में कामेक्षा विद्यमान होती है। कामवासना कभी शान्त नहीं होती जैसे भूख बार–बार लगती है तथा बार–बार कुछ न कुछ खाते–पीते हैं उसी प्रकार काम वासना की तृप्ती भी बार–बार की जाती है। यह प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता है।

(2) **बाहरी कारण**—कामुक साहित्य पढ़ना, कामुक बातें करना, कामुक दृश्य देखना, तथा मन के आठ प्रकार के मैथुन हर प्राणी के बाहरी कारण होते हैं। आन्तरिक आवश्यकता न होने पर भी इन बाहरी कारणों से काम जाग जाया करता है।

हमारे पूर्वजों ने दोनों प्रकार के कारणों पर विजय पाने के उपाय बतलाये हैं। भीतरी कारणों से काम जागृत न हो इसके लिये सदैव सात्विक आहार लेने पर जोर दिया है। आसन, व्यायाम आदि, करने की सलाह दी है। प्राणायाम ब्रह्मचर्य का सर्वश्रेष्ठ प्रबल साधन बतलाया है। इससे शरीरस्थ इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। परमात्मा की भक्ति, पूजन, इत्यादि से भी सदविचार पैदा होने से काम वासनायें सुप्त बनी रहती हैं। सदाचार तथा संयमित जीवन शैली अपनाते हुये ध्यान योग का अभ्यास बड़ा ही कल्याणकारी मार्ग है।

बाहरी कारणों से काम जागृत न हो, उसके लिये ऐसे साहित्य नहीं पढ़ें जिससे वासना बढ़ती हो, ऐसे दृश्य न देखें जिससे काम जागृत होता हो। अष्टमैथुन कदापि न अपनावें। बाहरी कारणों पर दबाव डालने के लिये मन की इच्छा शक्ति प्रबल बनाये रखने की आवश्यकता होती है। अपने को व्यस्त बनाये रखें ताकि मन इधर–उधर न भटके। कहते हैं—**''खाली दिमाग शैतान का घर''**। व्यस्तता बनाये रखने को स्वाध्याय का अभ्यास करते रहें। खूब सत्संग करें। अपने को खेल–कूदों में व्यस्त रखें। ऐसा करने से स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा तथा व्यस्तता भी बनी रहेगी। सदैव सात्विक भोजन करें। सबके साथ मिल–जुलकर रहें। इन उपायों को अपनाने से काम को जागने का अवसर ही नहीं मिलेगा। अकेलेपन में काम खूब मचलता है। अतः भगवान कृष्ण जी महाराज ने कहा है कि ज्ञान रूपी अंकुश से मन को वश में करें।

''ब्रह्मचर्य में उर्ध्वरितस की आवश्यकता''

शास्त्रों में हमारे विद्वान पूर्वजों ने ब्रह्मचर्य में उर्ध्वरितस की बात पर ज्यादा जोर दिया है। आइये इस शब्द को समझने का प्रयत्न करें। ब्रह्मचर्य पर अनेकों ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। उर्ध्वरितस का भाव है कि मनुष्यों में 'वीर्य' तथा औरतों में 'रज' उर्ध्वगामी हो जाता है। माना जाता है कि वीर्य या रज जननेन्द्रिय से बाहर निकलकर सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर से होता हुआ मस्तिष्क की ओर जाने लगता है तथा विभिन्न प्रकार की ऊर्जाओं में बदल जाता है। जिससे

ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी के मुख, मस्तिष्क आदि पर ओज (Auro), तेजस्विता की वृद्धि होने लगती है। ब्रह्मचारी का आभामण्डल चमक उठता है। वह आध्यात्मिक, शक्तिशाली तथा आनन्दविभोर हो जाता है। वीर्य या रज की इसी स्थिति को **'उर्ध्वरेतस'** कहा गया है। यह प्रक्रिया स्त्री तथा पुरुष दोनों में होती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी इस प्रक्रिया पर अपनी मोहर लगा चुका है।

विज्ञान की मान्यता है कि पुरुष का वीर्य, पौरुष ग्रन्थियों (अण्डकोषों) में बनता है। उनके अनुसार अण्डकोषों से कोई भी रास्ता, कोई नस, नाड़ी ऐसी नहीं है जिससे वीर्य सीधे मस्तिष्क तक पहुँचता हो। कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म मार्ग भी नहीं है। वीर्य के निकलने का एकमात्र रास्ता जननेंद्रिय ही है जिससे वीर्य या रज बाहर निकलता है। इसलिये पूर्वजों का कथन सत्य है कि वीर्य या रज उर्ध्वगामी होकर ऊपर जाता है। योगसाधन उर्ध्वगामी बनने में सहायक होते हैं। इसलिये पूर्वजों ने हमें शीर्षासन, सर्वांगासन आदि आसन करने पर जोर डाला है। उन्होंने कहा है कि ब्रह्मचारी को ये आसन वीर्य को उर्ध्वगामी करने के लिये अवश्य करने चाहिये।

हमारे पूर्वजों का ज्ञान उच्चस्तर का रहा है। त्रिकालदर्शी ऋषियों का उर्ध्वरेतस का मत पूर्णरूपेण सत्य और वैज्ञानिक है–

मनुष्य या स्त्री की बाल्यावस्था में वीर्य या रज का निर्माण नहीं होता है। किशोरावस्था से इसका निर्माण शुरू होने लगता है। सामान्यावस्था में निर्माण प्रायः धीरे–धीरे होता है। परन्तु काम वासना होने पर इसका निर्माण तेजी से होने लगता है।

वीर्य में प्रचुरमात्रा में प्रोटीन होती है। प्रोटीन भी इसमें न्यूक्लियोप्रोटीन होती है। प्रोटीन के अतिरिक्त 'पारा' होता है। दोनों ही प्रोटीन तथा पारा शरीर निर्माण तथा विकास करते हैं। पारा तथा प्रोटीन, जीव पैदा करने में सक्षम होते हैं। औरतों के रज में प्रोटीन के अतिरिक्त 'गन्धक' तत्व होता है। वीर्य तथा रज के संगठन से जीव निर्माण होने लगता है। इसी कारण वीर्य को 'ब्रह्म' के नाम से सम्बोधित किया गया है। भाव है कि वीर्य में सृजन शक्ति होने के कारण ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म ने ब्रह्माण्ड का निर्माण किया है, उसी प्रकार वीर्य, जीव का निर्माण करता है।

जब वीर्य बाहर नहीं निकलेगा तब वह उर्ध्वगामी होकर शरीर को पुष्ट शक्तिशाली ऊर्जावान बनायेगा तथा शरीर वृद्धि करेगा। इस तथ्य से उर्ध्वरेतस की प्रक्रिया होना सिद्ध होती है। भाव है कि वीर्य को बनाने वाले तत्व, शरीर से बाहर न निकलकर शरीर के निर्माण

अथवा विकास में काम आने लगते है जिससे शरीर शक्तिशाली बन जाता है। इससे ब्रह्मचारी के ओज तथा तेज में वृद्धि होती है।

इसी प्रकार ब्रह्मचारिणी स्त्री रहेगी तब उसका मासिक धर्म काफी लम्बी आयु के बाद ही शुरु हो सकेगा। ब्रह्मचारिणी होने पर स्त्री गर्भधारण तो करेगी नहीं। ऐसा होने से जो शक्ति उसके गर्भ धारण, बच्चे के शरीर निर्माण आदि मे खर्च होगी वह स्वयं ब्रह्मचारिणी के अपने शरीर विकास में लगेगी। जिससे उसका शरीर पुष्ट, कान्तिमान, ओजस्वी तथा तेजस्वी हो उठेगा।

अतः ब्रह्मचर्य पालन करने से स्त्री तथा पुरुष दोनों में प्राणशक्ति अधोगामी न होकर उर्ध्वगामी होगी। ऐसा होने से मनुष्य शारीरिक और मानसिक रूप से अधिक स्वस्थ, दीर्घजीवी और श्रेष्ठगुणों से परिपूर्ण बनेगा।

महाराज महर्षि पतंजलि जी ने योग दर्शन के (सा. 2/38) में वीर्यलाभ का फल बतलाते हुये लिखा है जो भी प्राणी वीर्यलाभ अर्जित करता है, वह ब्रह्मचारी है–

''ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः''

अर्थात् साधक में ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर सामर्थ्य का लाभ होता है। इसके अनुसार जो सद्गृहस्थ वीर्यलाभ करते हैं वे सब ब्रह्मचारी ही कहने योग्य हैं। मन से, वाणी से तथा कर्म से जो मैथुन नहीं कर रहे, ऐसे गृहस्थ वास्तव में ब्रह्मचर्य हैं।

जब हृदय कामवासनाओं से युक्त हो तथा शरीर से ब्रह्मचर्यवृत धारण किया हो, ऐसा मनुष्य ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता–

''हृदि कामाग्निता दीप्ते कायेन वहतो व्रतम्।
किमिदं ब्रह्मचर्यं ते मनसा ब्रह्मचारिणः।''

योग सिद्धि के इच्छुक साधकों को ब्रह्मचर्य का पालन हर हालत में करना श्रेयस्कर है। इसके बिना सफलता मिलना दुष्प्राय है।

परम श्रद्धेय पूज्य श्री सद्गुरु देव के पावन श्री चरण कमलों में मेरा कोटि–कोटि साष्टांग प्रणाम्। सभी गुरुभाइयों को जय गुरुदेव।

।। तब ही मानव तन फल पाओ ।।

ध्यान धनी को धरो निशिवासरि,
बैठि एकान्त अकेले मन से।
लक्ष्य हो पूरा मानव तन का,
काम करो जग के इस तन से।।1।।

मत भटकाओ मन को जग में,
मन ही दुख–सुख का दाता है।
अच्छे–बुरे, उचित और अनुचित,
यह मन ही कर्म कराता है।।2।।

इन्द्रिय सुख ही मूल पाप का,
दौड़–दौड़ मन उधर भग जावे।
काम–क्रोध और लोभ–मोह के,
कुटिल जाल में तुझे फँसावे।।3।।

गुरु ज्ञान का कोड़ा लेकर,
इस मन को मारो और डराओ।
मन जब सत्य मार्ग पर आवे,
तब ही मानव तन फल पाओ।।4।।

।।शुभम्।।

रचयिता एवं प्रेषक
धर्माचार्य दण्डी स्वामी कोमल देव आश्रम
परमाध्यक्ष
अद्वैत स्वरूप मुमुअ आश्रम सनातन देव मन्दिर
तैयबपुर–सुजातगंज, पोस्ट–बिलराम
जिला–कासगंज (उ. प्र.)
संपर्क–9910486310, 9899639228

चित्त शुद्धि एवं समाधि

—श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

प्रातः स्मरणीय भगवान पतंजलिदेवजी ने **''योगश्चित्तवृत्ति निरोधः''** कहकर चित्तवृत्ति निरोध को ही योग बतलाया है। चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ है—चित्त का लौकिक विषयों के चिन्तन से हट जाना। चित्त जब तक राग–द्वेषादि दोषों से कलुषित रहेगा, तब तक वृत्ति–निरोध होना असंभव है। अतः समाधि प्राप्ति के लिए चित्त शुद्धि परमावश्यक है। चित्त शुद्धि का महत्त्व बताते हुए मैत्रेयी उपनिषद में कहा गया है—

चित्तमेव हि संसारस्तत्यत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति, गुह्यमेतत् सनातनम्।।
चित्तस्य हि प्रसादेन, हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा, सुखमक्षयमश्नुते।।

चित्त ही संसार है, अतः उसे प्रयत्नपूर्वक शुद्ध करना चाहिए। जिसका जैसा चित्त होता है वह वैसा ही बन जाता है, यह एक सनातन सिद्धान्त है। चित्त शान्त होने पर साधक के सभी शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा प्रशान्त चित्त वाला साधक समाधि अवस्था को प्राप्त होकर कभी नष्ट न होने वाले आनन्द के भण्डार को पा जाता है। गीता में भी कहा गया है—

प्रसादे सर्व दुःखानां, हानिरस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्यासु, बुद्धि पर्यवतिष्ठते।।

चित्त की निर्मलता हो जाने पर साधक के अन्दर दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है और प्रसन्न चित्त मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है अर्थात् वह समाधि को पा जाता है।

अतः साधक को सर्व प्रथम चित्त शुद्धि के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

चित्त की मलिनता के क्या कारण हैं और उसकी शुद्धि किस प्रकार हो सकती है? इस रहस्य को समझाते हुए त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद में कहा गया है—

जीव अनन्त काल से अनेकों सूक्ष्म, स्थूल, उत्तम तथा अधम शरीरों को धारण करता हुआ उन–उन शरीरों से प्राप्त होने योग्य अनेकों शुभ–अशुभ प्रारब्ध कर्मों का भोग करता रहता है। जिस कारण उसका अन्तःकरण उन–उन कर्मों की वासना से लिप्त रहता है। अतः बार–बार उन–उन कर्मों के फलस्वरूप विषयों में ही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, निवृत्ति नहीं

होती। ब्रह्म–सुख की प्राप्ति के लिए उसे प्रवृत्ति नहीं होती। अज्ञान की प्रबलता के कारण जीव मोक्ष का विचार तक नहीं करता। जब अनेक जन्मार्जित पुण्यों का उदय होता है तो ईश्वर की अपार कृपा से सत्पुरुषों का संग प्राप्त होता है, जिससे मनुष्य को कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का बोध होता है और तब वह कल्याण मार्ग पर चलना आरम्भ करता है। जिसके फलस्वरूप उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

उपनिषदों में चित्तशुद्धि को ही समाधि का जनक बताया गया है। जब तक साधक का चित्त राग–द्वेष आदि दोषों से कलुषित रहेगा, तब तक उसे आत्म–साक्षात्कार नहीं हो सकता। जैसे–

स्व शरीरे स्वयं ज्योतिस्वरूपं परमार्थिकम्।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति, नेतरे माययावृता।।

(पाशुपत ब्रह्मोपनिषद)

जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है और जिनके दोष क्षीण हो गये हैं, योग–परायण साधक ही अपने भीतर स्वयं प्रकाशमान परमात्मा का दर्शन करते हैं। माया में फँसे हुए अज्ञानी लोग उसको देख नहीं सकते।

चित्तशुद्धि के लिए सर्व प्रथम हमारा आहार शुद्ध एवं सात्विक होना चाहिए। गीता में इसी बात पर बल दिया गया है–

युक्ताहार विहारस्य,
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तास्वप्नावबोधस्य,
योगोभवति दुःखहा।।

(गीता 6/17)

अर्थात् दुःखों का नाश करने वाला योग यथायोग्य आहार–विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने और जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

आहार शुद्धि का महत्त्व बताते हुए उपनिषदों में कहा गया है–

अभक्ष्यस्य निवृत्या तु,
विशुद्धं ह्रदयं भवेत्।
आहारशुद्धौ चित्तस्य,
विशुविर्भवति स्वतः।

चित्ते शुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं,

त्रुट्यन्ते ग्रन्थयः स्फुटम्।।

(प्राशुपत ब्रह्मोपनिषद्)

आहार में अभक्ष्य का त्याग कर देने से चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध हो जाने पर उसमें क्रमशः ज्ञान प्रकट होता जाता है, जिससे अज्ञान की समस्त ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में भी यही बात कही गई है—

आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः, सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।

स्मृतिलब्धे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।।

छान्दोग्योपनिषद् में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि मनुष्य जिस प्रकार का अन्न खाता है, वैसा ही उसका मन बन जाता है, क्योंकि मन अन्नमय है। प्राण आपोमय होते हैं और वाणी तेजोमय होती है। जैसे—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठः धातुस्तत्पुरीषं भवति। यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठः धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः स प्राणः।

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक्।

(छान्दोग्योपनिषद्)

खाया हुआ अन्न तीन रूपों में परिणत हो जाता है। उसका सबसे स्थूल भाग मल बन जाता है, जो मध्यम है वह मांस ओर जो सबसे सूक्ष्म है वह मन बन जाता है।

इसी प्रकार पिया हुआ जल तीन रूपों में विभक्त हो जाता है। उसका जो स्थूल भाग है वह मूत्र बन जाता है, जो मध्यम भाग है वह रक्त बन जाता है और जो सूक्ष्म भाग है वह प्राण बन जाता है।

खाये हुए घी, तेल आदि तेजस पदार्थ भी तीन रूपों में परिणत हो जाते हैं। उसका जो स्थूल भाग है वह हड्डी बन जाता है, जो मध्यम भाग है वह मज्जा बन जाता है और जो सूक्ष्म भाग है उससे वाणी बनती है।

दध्नः सोम्यः मध्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पि भवति। एवमेव सौम्य! अन्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो।

(छान्दोग्योपनिषद्)

अर्थात् जब दही मथा जाता है तो उसका सबसे सूक्ष्म भाग ऊपर उठ जाता है और वह मक्खन बनता है। ठीक इसी प्रकार हे सौम्य! अन्न जब खाया जाता है तो उसका सबसे सूक्ष्म भाग ऊपर उठ जाता है, वही मन बन जाता है।

अतः मन, प्राण एवं वाणी में पवित्रता एवं ओजस्विता लाने के लिए यह आवश्यक है कि साधक का खान–पान सात्विक हो।

अष्टांगयोग चित्तशुद्धि का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। योग–दर्शन में कहा गया है–

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक ख्यातेः।

अष्टांगयोग का अभ्यास करने से चित्त के मल समाप्त हो जाते हैं और वह सर्वथा निर्मल हो जाता है। उस समय योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेक–ख्याति तक हो जाता है। अर्थात् उसे आत्मा का स्वरूप मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न दिखलाई देता है। योग–दर्शन में चित्तशुद्धि के लिए दो सरल साधन बताये गये हैं। उनमें पहला साधन है–

मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुख–दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्।

सुखी मनुष्यों में मित्रता की भावना करने से, दुःखी मनुष्यों में दया की भावना करने से, पुण्यात्माओं में प्रसन्नता की भावना करने से और पापीजनों के प्रति उपेक्षाभाव रखने से चित्त के राग–द्वेष, ईर्ष्या और क्रोध आदि मलों का नाश होकर चित्त निर्मल हो जाता है।

अतः सुखी लोगों को देखकर उनसे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए, बल्कि उन्हें अपना मित्र समझते हुए और उनका सुख देखकर स्वयं भी सुख अनुभव करना चाहिए। दुःखी प्राणियों को देखकर उन पर दया करते हुए उनका दुःख दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। पुण्यात्माओं को देखकर उनसे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए बल्कि प्रसन्न होना चाहिए और अपने मन में उनके प्रति प्रेम और आदर बढ़ाना चाहिए। पापीजनों के प्रति किसी प्रकार का द्वेष–भाव न रखते हुए उनकी उपेक्षा करते रहना चाहिए। यह चित्तशुद्धि का एक उत्कृष्ट साधन है। दूसरा उपाय है–**प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य।**

अथवा प्राणवायु को बार–बार बाहर निकालने और अन्दर–बाहर रोकने के अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है।

अतः पूर्वोक्त रीति से मैत्री आदि की भावना करने से प्राणायाम के अभ्यास से तथा जप–तप आदि साधनों से साधक का चित्त पूर्णतया निर्मल हो जाता है और उसमें समाधिस्थ होने की योग्यता आ जाती है। योग–दर्शन का सिद्धान्त है–

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन योगयत्वानि च।

अर्थात् मैत्री आदि की भावना द्वारा ध्यानाभ्यास द्वारा अथवा जप, तप आदि साधनों

द्वारा आन्तरिक शुद्धि के लिए अभ्यास करने से साधक के अन्दर स्थित राग–द्वेष, ईर्ष्या आदि मलों का नाश होकर उसका अन्तःकरण पूर्णतया स्वच्छ हो जाता है। मन की व्याकुलता का नाश होकर उसमें सदैव प्रसन्नता बनी रहती है, चित्त एकाग्र हो जाता है और सब इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। जिससे साधक के अन्दर आत्म–दर्शन की योग्यता आ जाती है।

अष्टांगयोग के दूसरे अंग नियम के अन्तर्गत एक नियम शौच भी है, जिसका अर्थ है–शुद्धि ''शौच'' नियम का दृढ़ता से पालन करने पर वैराग्य के भाव पुष्ट होते हैं। शौच का फल बताते हुए योग–दर्शन में कहा गया है–

शौचात्स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः।

बाह्य शुद्धि का पालन करने से भी साधक की अपने शरीर में अपवित्र बुद्धि हो जाती है तथा सांसारिक व्यक्तियों का संग करने की उसे इच्छा नहीं होती।

बाह्य शुद्धि योग–साधना का एक अपरिहार्य अंग है और उसका विधान आन्तरिक शुद्धि के लिए ही किया गया है। इस सम्बन्ध में मैत्रेयी उपनिषद् का वचन है–

अहम्ममेति विण्मूत्रलेपगन्धादि लोचनम्।
शुद्धं शौचमिति प्रोक्तं, मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम्।।
चित्तशुद्धिकरं शौचं, वासनात्रय नाशनम्।
ज्ञान वैराग्यमृत्तोयैः, क्षालानात् शौचमुच्यते।।

मल–मूत्र आदि की शुद्धि तो मिट्टी–जल आदि से होती है, किन्तु यह लौकिक शुद्धि है। वास्तविक शुद्धि तो 'मैं' और मेरा भाव त्यागने से ही होती है।

यद्यपि बाह्य पवित्रता भी चित्त को शुद्ध बनाती है और वासनाओं का नाश करती है पर ज्ञानरूपी मिट्टी और वैराग्यरूपी जल के धोने पर जो पवित्रता आती है वही वास्तविक पवित्रता है।

मैत्रेयी उपनिषद में वर्णित निम्नलिखित विधि से साधना करने वाला योग–साधक शुद्ध चित्त होकर उसके फलस्वरूप मोक्ष को पा जाया करता है।

देहोदेवालयः प्रोक्तः स जीवः
केवलः शिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं,
सोऽहं भावेन पूजयेत्।।
अभेद दर्शनं ज्ञानं ध्यानं,
निर्विषय मनः।

स्नानं मनोमल त्यागः,
शौचमिन्द्रिय निग्रहः।।
ब्रह्मामृतं पिवेद्,
भैक्ष्यमाचरेद्देहरक्षणे।
वसेदेकान्तिको भूत्वा,
चकान्ते द्वैतवर्जिते।।
इत्येवमाचरेद्धीमान्स,
एव मुक्तिप्राप्नुयात्।।

शरीर देवालय है और उसमें वास करने वाला जीव शिवस्वरूप है। अतः साधक को चाहिए कि वह अज्ञानरूपी मल को त्याग दे अर्थात् अपने को शरीर न समझकर ''मैं ही वह परमात्मा हूँ'' ऐसी भावना से उस परमेश्वर की पूजा करे। क्योंकि जीव और परमेश्वर में भेद न समझना ही ज्ञान है। मन को विषय-विकारों से हटाना ही ध्यान है, मन के मैल को त्याग करना ही स्नान है और इन्द्रियों को वश में रखना ही शुद्धि है। बुद्धिमान साधक को चाहिए कि वह सदैव परमेश्वर-चिन्तन रूप अमृत का पान करता रहे और देह टिकी रहे। केवल इसी उद्देश्य से भिक्षा ग्रहण करे और एकान्त स्थान में एकाकी वास करे। इस प्रकार के आचरण करता हुआ मनुष्य मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

जाबालदर्शनोपनिषद में ''शौच'' की परिभाषा निम्नलिखित दो श्लोकों में की गई है–

स्वदेहमलनिर्मोक्षो,
मृज्जलाभ्यां महामुने।
यत्तच्छौचं भवेत् बाह्यं,
मानसं मननं विदुः।।
अत्यन्त मलिनी देहो देही,
चात्यन्त निर्मलः।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा,
कस्य शौचं विधीयते।।

मिट्टी और जल के द्वारा शरीर को पवित्र करना बाह्य शौच है; परन्तु ज्ञानीजन ''मैं विशुद्ध आत्मा हूँ'' ऐसा भाव रखने को ही सर्वोत्कृष्ट शौच कहते हैं। यह देह बाहर और भीतर दोनों ओर से ही मलिन है परन्तु देह को धारण करने वाली आत्मा अत्यन्त पवित्र है। इस प्रकार देह और आत्मा के अन्तर का ज्ञान हो जाने पर फिर किसे पवित्र किया जाये।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त उन लोगों पर ही लागू होता है जिन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया है और जो ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये हैं, जो समस्त प्राणियों और सभी पदार्थों को अपना ही रूप समझते हैं, जिनकी दृष्टि में द्वैत है ही नहीं। सामान्यजनों को तो अपनी साधना की प्रारम्भिक अवस्था में बाह्य शुद्धि का कट्टरता से पालन करना चाहिए। तभी वे आगे बढ़ सकते हैं।

आज के घोर कलिकाल में प्रगतिवाद के नाम पर लोग मनमाना आचरण करने लग गये हैं। खान–पान की शुद्धि की ओर किसी का ध्यान जाता ही नहीं। सबका झूठा खाना और सबको अपना झूठा खिलाना तथा खड़े जूते पहनकर खाना आज का फैशन बन गया है। यदि कोई व्यक्ति पवित्र एवं सात्विक जीवन बिताना भी चाहे तो उसे भी भ्रष्ट करने की चेष्टा की जाती है तथा उसे असामाजिक, असभ्य एवं ढोंगी आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। तथाकथित सभ्य समाज अकारण ही उससे द्वेष करने लग जाता है। वे लोग यम–नियमों को कोरा ढकोसला समझते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि ये यम–नियम ही हमारे समाज एवं सभ्यता के आधार–स्तम्भ हैं। सत्य–अहिंसा आदि यम तथा शौच–सन्तोष आदि नियम जहाँ समाज को अनुशासित और मर्यादित रखते हैं, वहीं ये मनुष्य को योग में प्रवेश भी दिला देते हैं। योग–मार्ग के पथिक को यम–नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए चित्तशुद्धि के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। क्योंकि चित्तशुद्धि ही समाधि का प्रथम और अन्तिम सोपान है। शुद्धिचित्त में ही आत्म–ज्ञान प्रकाशित होता है। योग–शिखोपनिषद् का कथन है–

शुद्धेचेतसि तस्यैव,
स्यात्मज्ञान प्रकाशते।
तस्माज्ज्ञानं भवेद्योगा–
ज्जन्मनैकेन–पद्मज।।
तस्माद्योगं तमेवादौ,
साधको नित्यमभ्यसेत।
मुमुक्षिभिः प्राणजयः,
कर्त्तव्यो मोक्षहेतवे।।

शुद्धचित्त में ही ज्ञान का प्रकाश होता है, योग द्वारा एक जन्म में ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। अतः साधक को इस योग का नित्य प्रति अभ्यास करना चाहिए। मोक्ष के अभिलाषी को मोक्ष प्राप्ति के लिए प्राणों पर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिए।

समाधि का स्वरूप

समाधि किसे कहते हैं और समाधि प्राप्त योगी की कैसी अवस्था होती है? इस विषय को सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद में सविस्तार समझाया गया है। जैसे–

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते।।
यदा संक्षीयते प्राणः मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं यत् समाधिरभिधीयते।।
यत्समत्वं तयोरत्र जीवात्मपरमात्मनः।
समस्त नष्ट संकल्पः समाधिरभिधीयते।।
प्रभाशून्यं मनः शून्यं बुद्धिशून्यं निरामयम्।
सर्वशून्यं निराभासं समाधिरभिधीयते।।
स्वयमुच्चलिते देहे देही नित्य समाधिना।
निश्चलं तं विजानीयात् समाधिरभिधीयते।।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परम पदम्।
यत्र यत्र परंब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम्।।

(सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद)

जिस प्रकार जल में मिलाया हुआ नमक उसी में घुल–मिल जाने से जल ही बन जाता है। उसी प्रकार मन जब आत्मा में विलीन हो जाने से अपना पृथक् अस्तित्व खोकर तद्रूप बन जाता है, उस अवस्था को समाधि कहते हैं।

प्राणायाम के द्वारा सम्यक् रूप से क्षीण प्राणवायु जब कुम्भक में स्थिर हो जाती है चित्तवृत्तियों का लोप हो जाता है, तब चित्त और आत्मा में जो एकीभाव हो जाता है, उसे समाधि कहा जाता है।

समाधि उस अवस्था का नाम है, जिसमें जीवात्मा और परमात्मा में समत्व हो जाने पर सभी संकल्प मिट जाते हैं।

सांसारिक बोध रहित जिस स्थिति में मन, बुद्धि का पूरी तरह विलीनीकरण हो जाने पर सब कुछ शून्यवत् दिखाई पड़ता है, उस निरामय अवस्था को समाधि कहा जाता है।

श्री रामलाल प्रभवे नमः

सोई जानई जेहि देहुं जनाई

—जगदीश राए बंसल ''अधम'' 9212434003

(गतांक से आगे...)

शक्ति का संचार किया—

इसी प्रकार का एक प्रसंग सन् 1974 के श्रावण मास का है। मैं संवाई आश्रम में ठहरा हुआ था। श्रावण मास में गुरुदेव भगवान द्वारा प्रतिवर्ष महारुद्र यज्ञ का आयोजन किया जाता रहा है, जो आज भी गुरुदेव भगवान श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के लाड़ले शिष्य योगीराज श्री रामलाल जी महाराज यथावत निभाए हुए हैं। एक दिन हमारे नजदीकी व्यक्ति शिवशंकर अस्वस्थ हो गए। वह सिर में भयंकर पीड़ा के कारण जोर–जोर से कराह रहे थे। ये कर्राहट मेरी एकाग्रता में बाधा बन रही थी। मेरे मन में शिवशंकर के प्रति सहानुभूति जागृत हो गई। अमंगल हारी गुरुदेव जी ने मेरे ध्यान में आदेश दिया कि शंकर को सम्भालो। त्रिकालदर्शी गुरुदेव जी की यह लीला मेरी बुद्धि से परे की थी। वे सर्व समर्थ हैं फिर भी यह कार्य मेरे से कराना चाहते हैं? अब मैं ध्यान में देखता हूँ कि मेरा एक हाथ लम्बा व भारी होता जा रहा है और 80–90 फीट की दूरी पर लेटे शंकर के सिर पर स्वतः ही रखा गया। पश्चात् मेरा ध्यान खुल गया। मैं तुरन्त ऊपर से नीचे सीधा शिवशंकर के कमरे में पहुँचा। कुशल क्षेम पूछने पर शंकर ने बताया कि मुझे असहाय वेदना हो रही थी, अभी–अभी चैन मिला है। अब मैं गुरुदेव भगवान द्वारा इस शक्ति संचार के विषय में सोचने को विवश हो गया। फिर शंकर ने भण्डारे का भोजन प्रसाद ग्रहण किया। इसी प्रकार मेरी साधना दिनों दिन बढ़ती गई और आश्चर्यजनक घटनाएँ होती रहीं।

इसी प्रकार का एक और आश्चर्य भरा प्रसंग है। हुआ क्या, कि मेरी पुत्री शकुन का मुझे एक पत्र जुलाई 1990 में मिला। उसके शरीर में दो गाँठें निकल आईं। लम्बे समय तक उपचार से कोई लाभ नहीं हो रहा था। इस बारे में उसके सास–ससुर जी के पत्र भी आए। मेरा चिन्ताग्रस्त होना स्वाभाविक ही था, अतः सिथौली (ग्वालियर) स्थित अपने योग स्थली आश्रम में 15 दिन का अनुष्ठान आरम्भ कर दिया। समाधि में जाने से पूर्व पुत्री के कष्ट

निवारणार्थ कल्प तरू गुरुदेव भगवान की प्रेरणा से संकल्प करने लगा। तीसरे दिन जब मैं श्री प्रभु जी के ध्यान में मग्न था तब जगत नियन्ता परम कृपा निकेतन गुरुकृपा से मेरा हाथ बढ़ने लगा और मेरी पुत्री जो 300 कि.मी. दूर आर. के. पुरम नई दिल्ली अपने कक्ष में लेटी हुई थी, उसके सिर पर रखा गया। उस समय मैंने पुत्री के भविष्य में होने वाले संस्कारी वेगों को भी देखा और एक वर्ष पश्चात् होने वाले उसके सुपुत्र को भी देखा तथा अन्य कई ... .को भी देखा। तत्पश्चात् मेरी प्रिय पुत्री आशुतोष करुण सागर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की कृपा से पूर्ण स्वस्थ हो गई। एक वर्ष पश्चात् पुत्र रत्न भी प्राप्त हो गया।

मेरे जीवन में प्रायः जाने अनजाने किसी भी धर्म जाति के आदमियों को ऐसी–ऐसी सहायता होती रही है। यह मेरी अपनी प्रशंसा नहीं है अपितु गुरुदेव भगवान की योग अनुभूति पूर्ण विद्या है। अतः योग विद्या का प्रचार प्रसार मेरा धर्म है। फिर भी तात्विक बात तो यह है कि–

नजारे बहुत थे मेरी नजर छोटी थी।

सीख बहुत थी मेरी अकल मोटी थी।।

गुरोराज्ञानुलंघनीय–

सिद्धों के सरदार गुरुदेव श्रीचन्द्रमोहन जी महाराज अपने श्रीमुख से साधकों को समय–समय पर सावधान करते रहे हैं कि ध्यान में किसी देव के निमन्त्रण पर बहकावे में न आएँ। अन्यथा पतन निश्चित है। इसी प्रकार का एक उदाहरण मेरे सामने आया है। मैं (तोमर) सन् 1975 में श्रावण मास के अनुष्ठान के समय सवाई धाम रहकर मौन साधना कर रहा था। एक साय एक ब्रह्मचारी मेरे पास आकर बोले कि मैं वर्षों से गायत्री माता का जाप कर रहा हूँ लेकिन मुझे माता के दर्शन नहीं हुए हैं। अगर मैं इस आश्रम के महाराज जी से दीक्षा ले लूँ तो क्या मुझे सफलता मिलेगी? मैंने स्लेट पर लिख कर बताया कि मुझे तो सब कुछ यहीं से प्राप्त हुआ और मुझे विश्वास है कि आपको भी सफलता मिल सकती है। उसने अगले ही दिन पर ब्रह्म विश्वनाथ गुरुदेव भगवान श्री चन्द्रमोहन जी महाराज से विधिवत् दीक्षा लेकर अपनी साधना आरम्भ कर दी। सिद्ध योगाधिपति गुरुदेव का ऐसा चमत्कार हुआ कि उसे प्रथम दिन से ही अनुभूति होने लगी।

अब तक निर्धन था–अब हुआ धनवान।

गुरु ने ऐसा दीक्षित किया–रीझ गए भगवान।।

वह चौथे दिन बड़ी प्रसन्न मुद्रा में मेरे पास आकर बोला कि तोमर साहिब आपका

शुक्रगुजार हूँ। माँ गायत्री–मेरी माँ गायत्री, प्यारी और दुलारी माँ गायत्री ने मुझे दर्शन देने की कृपा कर दी है। पश्चात् ब्रह्मचारी जी सवाई से प्रस्थान कर गए।

अब देखिए–कुछ समय पश्चात् उसने आकर अपनी कथा मुझे सुनाई कि मैं कुटिया बनाकर साधना करने लगा। मुझे देवताओं के निमन्त्रण मिलने लगे और मुझे मेरी साधना का अहंकार हो गया। मैं अप्सराओं के साथ भोग भोगता रहा।

पीना चाहे प्रेम रस–राखा चाहे मान।

एक म्यान में दो खड़क–देखा सुना न कान।।

अन्ततोगत्वा उसका पुण्य क्षीण होने पर पतन को प्राप्त हो गया। यह सब गुरु आज्ञा के उल्लंघन का परिणाम है। अन्यथा जैसे ही गुरु कृपा से शक्तिपात होता है। वह तुरन्त समाधि को प्राप्त हो जाता है, मगर शेरनी का दूध तो स्वर्ण पात्र में ही ठहरता है, टूटे भाँडे में नहीं।

श्री प्रभुजी ने तीसरा नेत्र खोला–

त्रिकाल दर्शी परं ब्रह्म विश्वनाथ भगवान गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज से आज्ञा एवं शासकीय सेवा से अवकाश लेकर मैं सन् 1977 में छः माह के अनुष्ठान हेतु ऋषिकेश आश्रम चला गया। दिन के समय गंगा तीर झाड़ियों में बैठकर तथा रात्रि वेला में आश्रम में रह कर साधना करता रहा।

नाम खुमारी नानका–चढ़ी रहे दिन रात

एक दिन शाम के पाँच बजे, जब मैं झाड़ियों के पास एक पत्थर पर बैठा ध्यान मग्न था, एक विलक्षण घटना घटी। मेरे दाहिनी ओर से एक ध्वनि सुनाई दी, "दुर्गा सिंह–होशियार, दुर्गा सिंह होशियार, मृत्यु संस्कार आ रहा है। सावधान!" ये आवाजें दो–तीन दिन रह रहकर सुनाई देती रहीं। चिन्ताग्रस्त होकर मैंने अमंगल एवं भवभय हारी गुरुदेव भगवान को पत्र लिख कर पूरी बात विस्तार से बतलाई। लगभग दस दिन उपरान्त मुझे गुरुदेव भगवान का हस्त लिखित पत्र मिला। लल्ला! यह देववाणी है, असत्य नहीं हो सकती, तुम तीव्रतम ध्यान अभ्यास करो। श्रीप्रभु जी की कृपा से मृत्यु संस्कार कट जाएगा। मैंने गुरुजी के आदेश का अक्षरशः पालन किया।

अनुष्ठान सम्पूर्ण के सात–आठ दिन पहले मैंने ध्यान में एक दृश्य देखा कि मैं अपने इष्टदेव के समक्ष भोग की थाली लिए जा रहा हूँ, लेकिन इष्टदेव क्रोधित होकर भोजन की थाली दूर फेंक देते हैं। मैं उसी दिन अस्वस्थ हो गया और टैक्सी द्वारा ग्वालियर लाया गया।

ग्वालियर के प्रसिद्ध डॉक्टरों को समझ नहीं आ रहा था कि यह कौन–सी बीमारी है? हाँ, इस विकट अवस्था में भी मेरा मन्त्र अनवरत चलता रहा और ध्यान में पिछले जन्म में मेरे द्वारा सताए हुए दृश्य आते थे। कोई कहता–मेरा हाथ काटा था, कोई कहता मेरा पैर काटा था, कोई कहता था मुझे तलवार मारी थी....... आदि–आदि। साथ–साथ ध्यान में एक देवी भी दिखाई देती थी। वह हाथ में खप्पर लिए कहती थी कि मुझे यह खप्पर भरना है। दीपावली के दिन सायंकाल मेरी तबीयत ज्यादा खराब हो गई। बाजार की चकाचौंध के बीच हमारे घर एक भी दीपक न जला। लगभग आठ–नौ बजे मुझे एक दृश्य दिखाई दिया कि एक काले रंग की दीवार पर ''सीमा'' शब्द लिखा है। दीवार के पचास फुट अन्दर एक वृक्ष खड़ा है। उस वृक्ष के नीचे काली–काली, लाल–लाल आँखों वाली एक विशालकाय चिड़िया बैठी है। चिड़िया बोलती है कि ''मैं मृत्यु हूँ, तुझे लेने आई हूँ।'' तुरन्त ही उस चिड़िया ने अपनी चोंच का नीचे का जबड़ा मेरे पैर के नीचे लगा दिया और ऊपर वाला जबड़ा मेरे सिर के ऊपर ..... जैसे ही वह चिड़िया मुझे मुँह में दबा कर उड़ने को हुई कि यकायक दाहिनी ओर से चिमटे की खन–खनाहट सुनाई दी। सम्भवतः संकटमोचक महा मृत्युञ्जय दादा गुरु महाप्रभुजी ओजस्वी वाणी से ललकार रहे थे कि ''हे मृत्यु मेरे बच्चे को छोड़ दे, इस पर तेरा अधिकार नहीं है। इसका जन्म–मरण मेरे हाथ में है।'' ये ताड़नात्मक शब्द सुनने पर भी उस चिड़िया ने मुझे नहीं छोड़ा।

महाप्रभु की फटकार है चिड़िया को कोई असर नहीं,
मेरे मौत की घड़ी है कोई किसी का फकर नहीं।
जिन्दगी बचेगी जरूर मंजिलें मकसूद पर,
सामने मौत खड़ी है तो कोई फिकर नहीं।।

जहाँ इष्ट होता है वहाँ अनिष्ट नहीं होता, अतः अग्नि की एक लम्बी लाट चिड़िया के ऊपर गिरी और चिड़िया ने मुझे तुरन्त छोड़ दिया। वह कराहते–कराहते भस्म होकर राख के एक ढेर में परिवर्तित हो गई। संभवतः सिद्ध योगाधिपति आराध्यदेव दादा गुरु महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने अपना तीसरा नेत्र खोल दिया था। पश्चात् मेरा ध्यान खुल गया। मैं शीघ्रतम स्वस्थ होता चला और यथाशीघ्र अपनी शासकीय सेवा का कार्यभार ग्रहण कर लिया। परिणाम यह है कि ध्यान योगी तथा गुरु भक्त साधक का क्लिष्ट संस्कार स्वप्न/ध्यान में भी कट जाया करता है। मन्त्रजाप काल भक्षिणी अजपा गायत्री है।

आहा, मैं प्रभुजी का पुत्र–मुझे स्वयं पर बीती एक घटना की याद आती है। मैं अपने

ग्वालियर के पूजा कक्ष में लेटा हुआ था। मैं दो घण्टे से अधिक शयन नहीं करता हूँ। एक रात्रि लगभग तीन बजे समाधि में एक दृश्य आया कि मेरे चारों ओर प्रकाश फैला हुआ है। भगवान नन्दी महाराज अद्भुत शोभा दे रहे हैं। हृष्ट–पुष्ट श्वेत शरीर, स्वर्ण सींग, लम्बी भारी पूँछ, चौड़ा मस्तक..... आदि। मैंने उनको प्रणाम किया और एक प्रश्न कर बैठा कि क्या मैं एक पूर्ण योगी बन सकता हूँ? प्रत्युत्तर में नन्दी जी सरस वाणी से बोले, ''भैय्या–तुम चिन्ता मत करो, तुम पूर्ण योगी राज बनोगे, यह जिम्मेदारी हमारी है, मगर तुम्हारे राजनीति में जाने के संस्कार हैं, उधर नहीं जाना है अन्यथा आध्यात्मिक जीवन नष्ट भ्रष्ट हो जाएगा।'' पश्चात् नन्दी महाराज अन्तर्ध्यान हो गए।

मैं सोचने लगा कि नन्दी महाराज ने मुझे भैय्या क्यों कहा? कहाँ शिवरूप भगवान नन्दी और कहाँ मैं एक साधारण साधक। अपनी शंका निवारणार्थ मैंने गुरुजी को यह अनुभव सुनाया। गुरुजी ने समाधान किया कि श्री महाप्रभु जी ने तुम्हें अपनी अभय शरण देकर, तुम्हें अपना पुत्र बना लिया है, अतः तुम्हारे जीवन–मरण, सुख–दुःख, लाभ–हानि की जिम्मेदारी महाप्रभुजी की है। अतः नन्दी ने भैय्या शब्द का उपयुक्त प्रयोग किया है।

गुरु वचनों के बाद रंगीली धनक तो आएगी।
प्रभु जी ने पुत्र कहा चेहरे पर चमक तो आएगी।।

श्री महाप्रभु जी सर्वशक्तिमान करुणा के सागर हैं। वे मेरी अंगुली पकड़े हुए कलिष्ट संस्कारों को कटवाते हुए ध्यान में बार–बार दिखाई देते हैं। जहाँ कुसुम की कोमलता, सागर की गम्भीरता, पृथ्वी की सहिष्णुता, गंगा की पवित्रता, चाँद की शीतलता एक साथ हों उसी को कहते हैं–

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धु च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्व मम् देव देव।।

कर न निन्दा तू किसी की, यह न मानव धर्म है।
और के अवगुण निरखना, यह महा दुष्कर्म है।।
कर भले से भले से नाव लेकर, तू भलाई लोक की।
दे हटा, आई घटा हो, यदि किसी पर शोक की।।

–दिव्य

योगक्षेमं वहाम्यहम्

—श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा

श्रीमद्भागवत् गीता के नवें अध्याय का 22वाँ श्लोक इस प्रकार है

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां
ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां
योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना में रत रहते हैं, ऐसे निरन्तर अपने से जुड़े हुए व्यक्तियों के योग तथा क्षेम दोनों का निर्वहन मैं स्वयं करता हूँ।

कितना उदार व उन्मुक्त आमन्त्रण है प्रभु की ओर से जीवमात्र को। प्रभु उद्घोष कर रहे हैं कि समस्त समर्पण भाव से मेरी ओर आने का मन तो बनाओ। जब तक हमारा मन ही स्थिर नहीं है, वह भ्रमित व चलायमान है, तब तक हमारा संशयालु मन शंकाओं से ग्रस्त होकर भयाक्रान्त ही रहेगा। योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में एक स्थल पर कहा भी है कि 'संशयात्मा विनश्यति'। संशय में पड़े रहने वाले व्यक्ति का विनाश ही हुआ करता है।

इसका प्रथम सोपान है श्रद्धा। श्रद्धावान ही ज्ञान लाभ किया करते हैं। गीता में अन्यत्र स्थलों पर निम्न सुन्दर उक्तियाँ इस बात की पुष्टि में सहायक हैं। एक जगह तो यह कहा है कि **''श्रद्धामयोऽयं पुरुषः''** तथा दूसरे स्थल पर **''श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्''**। इन उक्तियों का यदि हम थोड़ा सा भी विश्लेषण करने का प्रयास करें तो हमारा संशय दूर हो जायेगा। **'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः''** का भाव यह है कि ईश्वर की अंशभूत आत्मा, जो हम सबके अंदर विराजमान है वह श्रद्धा से पूर्ण है। बस हमें मात्र करना यह है कि उस श्रद्धा को जागृत कर उसे एक सुन्दर दिशा की ओर उन्मुक्त कर देना है। जहाँ श्रद्धा को अनुकूल वातावरण मिला, वहीं दिव्य भाव का संचार हो जाया करता है। इसके पश्चात् भगवद् वचन है कि **'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्'** इसका आशय यह है कि श्रद्धा से युक्त व्यक्ति ही ज्ञान का लाभ किया करता है।

ज्ञानवान व्यक्ति के लिए तो भगवान श्रीकृष्ण ने कितनी उदार वाणी में इन शब्दों का उच्चारण किया है **'ज्ञानवान मां प्रपद्यते'** ज्ञानवान व्यक्ति मुझे ही प्राप्त हुआ करता है। एक अन्य स्थल पर भगवान वासुदेव अपने मुखारविन्द से यह कहते हैं कि मुझे चार प्रकार के व्यक्ति भजते हैं। वे चारों प्रकार के व्यक्ति सुकृति अर्थात् पुण्य कार्यों को ही करने वाले होते हैं। प्रथम प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं, जो किसी अकस्मात् विपत्ति के आने पर दुःखी होकर अनन्य भाव से मेरे शरणागत हो जाया करते हैं। दूसरे प्रकार के व्यक्ति वे हैं जो 'जिज्ञासु' की कोटि में रखे जा सकते हैं। किन्हीं पूर्व जन्मों के संस्कारवश उनके पुण्योदय होते हैं तब वे मेरी ओर उन्मुख होते हैं और तभी वे 'अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा' के प्रथम ब्रह्मसूत्र के अध्येता बन प्रभुकृपान्वेषी होकर मात्र जिज्ञासु भाव से इस प्रशस्त अर्थ की ओर अग्रसर होते हैं।

तीसरे प्रकार के लोग 'अर्थार्थी' की कोटि में रखे गये हैं। ये वे बुद्धात्मा हैं जो प्रभु शरणापन्न हुआ करते हैं परन्तु उसमें उनका कुछ न कुछ प्रयोजन निहित हुआ करता है। चौथे प्रकार के सर्वोपरि बुद्धात्मा वे व्यक्ति हैं जो ज्ञानवान हैं तथा तात्विक रूप से जिन्हें आत्म–बोध हो गया है। इसलिये भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से निम्न श्लोक के साथ–साथ अन्य श्लोकों को भी हमारे कल्याण के लिए गीता में सन्निहित कर दिया है।

चतुर्विधा भन्जते मां
जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी
ज्ञानी च भरतर्षभ।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त
एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ
महं स च मम प्रिय।।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी
त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः सहि युक्तात्मा
मामेवानुत्तमां गतिम्।।
बहूनां जन्मनामन्ते

ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स
महात्मा सुदुर्लभः।।

तो इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानी पुरुष के लिए भगवान ने स्वयं कहा है कि वह एकमति अर्थात् एकनिष्ठ होकर रहते हैं तथा उनका तात्विक विवेचन उन्हें सदैव एकरूपता की स्थिति में बनाये रखता है। जो ज्ञानवान होगा, वह भक्तिवान अवश्य ही होगा, इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं है। इसलिए ज्ञानवान की कोटि सर्वोपरि भगवान द्वारा रखी गयी है।

उपरिलिखित से यह निष्कर्षतः सिद्ध हो जाता है कि ज्ञानी व्यक्ति में भक्ति की अतिशयता स्वयं सिद्ध है। ऐसे ही पुण्यवान व्यक्ति ज्ञान व भक्ति दोनों के तारतम्य से यदि भगवत् चिन्तन के प्रति अनन्य भाव से सन्नद्ध रहते हैं तब तो यह सोने में सुहागे की उक्ति को चरितार्थ करने वाली बात हो जाती है। पहले तो अनन्य भाव हो उस पर तत्वतः ज्ञानवत्ता की स्थिति तथा उस पर भी योगमुक्त होकर भगवत् चिन्तन में ही निरत रहने वाले व्यक्ति की योगक्षेम और कौन वहन करेगा? वही तो वहन करेंगे जिनका निशदिन ऐसे व्यक्ति मनन, श्रवण एवं निदिध्यासन करते रहते हैं।

एक बात यहाँ उल्लेख कर देने योग्य यह है कि ऐसे सद्गुणी व्यक्ति में भी यहाँ अहंकार का भाव उदय हो जाता है तो उनके उल्लिखित गुण गौण रूप में विद्यमान रहते हैं तब अनन्यभाव न रहकर वह अन्य भाव हो जाया करता है जिससे उससे प्राप्त होने वाले योगक्षेम की स्थिति फिर संशयास्पद हो जायेगी। तो अहंकार की स्थिति से ज्ञानी व्यक्ति को सदैव बचना चाहिए। तथापि वे सर्वज्ञता की स्थिति को भी प्राप्त कर चुके हों उन्हें यही विचार करना चाहिए कि वे तो निमित्तमात्र हैं। कर्ता, धर्ता तथा हर्ता तो उसके अतिरिक्त अन्य ही है जिसके ऊपर वे सदैव अनन्य भाव से आश्रित हैं।

व्यवहार जगत में भी हम प्रायः यह देखते रहते हैं कि जब एक शिशु जो पूर्णरूपेण अपनी जननी पर ही प्रत्येक कार्य के लिए आश्रित एवं अवलम्बित है, उसके हर कार्य, खान–पान, पहनना, ओढ़ना आदि की जिम्मेदारी उसकी माता की ही हो जाया करती है और दूसरे अर्थों में वह ही उसके योगक्षेम की संपूर्ण भाव से देखरेख किया करती है। जहाँ उस शिशु की शिशुता समाप्त हुई और बच्चे में यह भाव आया कि नहीं अब तो मैं दूसरे–दूसरों का सहारा लेकर या अपने से ही सब काम कर सकता हूँ–तब क्या माता उसकी जिम्मेदारी को ओढ़ती है। कदापि नहीं। इसी प्रकार भगवदीय पक्ष में भी इस सिद्धान्त की प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि योग तथा क्षेम दोनों भिन्न–भिन्न अर्थ को धारण करते हैं। जो हमें प्राप्त है उसका परिरक्षण भगवान स्वयं करते हैं तथा जो प्राप्तव्य है अथवा जो भावी जीवन के लिये कल्याणमय है, उसका दायित्व भी भगवान स्वयं वहन करते हैं। कितना बड़ा उपकार परम कृपालु प्रभु करने को तत्पर हैं परन्तु एक हम हैं जिन्हें सांसारिक अवलम्बों को ही सर्वस्व माने बैठे हैं और सदैव चिन्तातुर एवं भयातुर रहते हैं।

हम दूर क्यों जायें? हमारे आराध्य गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज स्वयं इसके अनुपम उदाहरण हैं। यद्यपि वे इतने अधिक सामर्थ्यवान तथा सिद्ध थे कि स्वयं ही सब कार्यों का निस्तारण सहज रूप में कर दिया करते थे परन्तु कभी भी अपने ऊपर इसका श्रेय नहीं लिया। वे निरहंकार एवं निर्लिप्त भाव से अपने इष्ट एवं प्रातः स्मरणीय प्रभु श्री रामलाल जी का सदा सर्वदा चिन्तन किया करते थे और यही कहा करते थे कि करण कारणहार तो प्रभुजी ही हैं, मैं तो कुछ भी नहीं। वे विनोद में प्रायः कहा करते थे कि जैसे हलवे में चम्मच हुआ करता है वही मेरी स्थिति है। हलवा तो प्रभु जी स्वयं है। ये थी उनके अनन्य भाव की पराकाष्ठा।

मेरे विचार में यदि हम भी सर्वतोभावेन अपने ही इष्ट एवं आराध्य गुरुदेव के प्रति समर्पित भाव से अनन्य भक्ति युक्त रहकर उनका चिन्तन करते हैं तो क्या वे हमारी योग और क्षेम का वहन नहीं करेंगे, अवश्यमेव करेंगे, यही हमारी अटूट श्रद्धा एवं आस्था है। इसे ही सदैव श्री गुरुदेव बनाये रखें, यही हमारी हार्दिक कामना है।

शोक संवेदना

बड़े दुःख से सूचित कर रहे हैं कि श्री ओमप्रकाश पालीवाल जी (त्यागी) लखनऊ वालों का 9 सितम्बर 2020 को इटावा आश्रम में देहावसान हो गया है। वह गुरुदेव के पुराने शिष्यों में से एक थे और 90 वर्ष पूरा कर चुके थे। लखनऊ आश्रम में रहकर आजीवन योग के प्रचार–प्रसार में लगे रहे। इस दुःख की वेला में उनके शिष्य वर्ग को इस दुःख को सहन करने की प्रभु शक्ति दें और त्यागी जी को प्रभु अपने चरणों में स्थान दें।

शोकाकुल
समस्त आश्रमवासी
श्री सिद्धगुफा, सवाई, आगरा।

विज्ञानमय कोश

—आचार्य श्रीराम शर्मा

अन्नमय, प्राणमय और मनोमय यह तीन कोश प्रकृति–परक हैं। इनका सम्बन्ध काय–कलेवर से है। यों यह तीनों ही चेतन हैं, पर इनकी चेतना शरीर के साथ गुंथी हुई है, पंचभूतों के समन्वय से ही इनका अस्तित्व है। स्थूल पंच तत्त्वों की रासायनिक एवं आणविक प्रक्रिया के आधार पर चेतना का जो अंश गतिशील रहता है, उसी की झांकी इन तीन कोशों में मिलती है। यह पदार्थों की मात्रा तथा स्तर के आधार पर प्रभावित होते हैं। आधार न मिलने से अन्नमय कोश लड़खड़ा जाता है। उत्साहवर्द्धक अनुकूल परिस्थितियाँ न मिलने से प्राण शिथिल पड़ जाता है। मस्तिष्क संस्थान में नशा, मूर्छानस्य, क्लोरोफार्म आदि आघात एवं स्थानीय व्याधि खड़ी हो जाने से चिन्तन प्रक्रिया ठप्प अथवा विकृत हो जाती है। उत्तम आहार से शरीर–प्रोत्साहन से प्राण एवं प्रशिक्षण से मन का विकास होता है। इससे स्पष्ट है कि ये तीनों ही शरीर सचेतन होते हुए भी तत्वगत प्रकृति पर निर्भर हैं। इन्द्रियाँ इन्हीं तीनों के साथ जुड़ी हुई हैं। वे पदार्थों एवं परिस्थितियों के अनुरूप सुख–दुख अनुभव करती हैं। सुविधा की दृष्टि से यदि इन्हें स्थूल संज्ञा दी जाये तो भी कोई हर्ज नहीं। मरने के बाद प्रेत शरीर प्राणमय कोश का बना हुआ होता है। इससे उच्च स्थिति की आत्मायें जिन्हें पितर कहा जाता है, मनोमय कोश के आधार पर बनते हैं। प्रेत निम्न कोटि के–उद्धत प्रकृति के होते और अशांत रहते हैं जबकि पितर दया, करुणा, विवेकयुक्त होते हैं और मैत्री उदारता एवं सहकारिता का परिचय देते हैं। इन तीनों ही शरीरों का परिचय यन्त्रों, इन्द्रियों के सहारे किसी न किसी प्रकार मिलता रहता है। पंच–तत्त्वों से तो प्रत्यक्ष शरीर बनता है, पर उनकी सूक्ष्म तन्मात्राएँ प्राणमय और मनोमय शरीरों की संरचना करती हैं। इन्हीं कारणों से उपरोक्त तीनों शरीरों को प्रकृतिपरक माना गया है और उनकी चेतना को स्थूल वर्ग में भी गिना गया है।

सूक्ष्म वर्ग के दो शरीर हैं–विज्ञानमय और आनन्दमय। इनका सम्बन्ध सूक्ष्म जगत से और ब्रह्म–चेतना से है। विज्ञानमय कोश की संरचना सूक्ष्म जगत से आदान–प्रदान कर सकने के उपयुक्त है। उसमें भाव संवेदनाओं की प्रधानता है। प्रेम तत्त्व की रसानुभूति सर्वोपरि है। इतनी सरसता जीवन के अन्य किसी पक्ष में–संसार की अन्य किसी विभूति में

नहीं है। इसी से प्रेम को परमेश्वर कहा गया है। यह प्रेम तत्त्व अनेक रूपों में प्रकट होता रहता है। घनिष्टता, आत्मीयता, एकता, ममता, वात्सल्य, करुणा, मैत्री, सेवा, उदारता आदि अनेकों रूप उसके हैं। व्यक्ति और परिस्थिति के अनुरूप उसके प्रवाह एवं स्वरूप कई प्रकार के देखने में आते हैं। पत्नी, पुत्र, भगिनी, जननी के प्रति प्रेम तत्त्व की मात्रा समान होने पर भी उसके व्यवहार में अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। सुखी के प्रति प्रसन्नता और दुःखी के प्रति करुणा व्यक्त करने में भी व्यवहार का अन्तर रहता है, मूलतः वह सहानुभूति की ही सम्वेदना होती है। प्रेम का स्थान हृदय माना गया है। सहृदयता, सज्जनता की विवेचना करते हुए उसे हृदय से सम्बन्धित कहा जाता है। यही हृदय एवं भाव संस्थान अध्यात्म शास्त्र में विज्ञानमय कोश कहा गया है।

व्यक्ति से व्यक्ति का सम्बन्ध बाजारू स्तर पर तो स्वार्थों के आदान-प्रदान पर टिका होता है किन्तु घनिष्ट आत्मीयता आन्तरिक संवेदनाओं के आधार पर जुड़ती है। वैश्या की घनिष्टता अर्थ प्रधान है उसका आरम्भ, विकास एवं अन्त इसी आधार पर होता है, किन्तु माता और संतान के बीच पति और पत्नी के बीच जो सघनता है उसमें निस्वार्थ आत्मीयता का ही गहरा पुट रहता है। भाव संवेदना इसी का नाम है। लोक व्यवहार में तथा स्वार्थ कौशल में जिस शिष्टाचार एवं चापलूसी का परिचय दिया जाता है वह तो व्यावहारिक चतुरता भर है। आत्मीयता इससे कहीं गहरी वस्तु है। इसका उद्गम हृदय होता है। इसलिये उसे प्रेम की संज्ञा दी जाती है और परमेश्वर के समतुल्य, पवित्र एवं उत्कृष्ट गिना जाता है।

यहाँ एक बात और ध्यान रखने की है कि 'हृदय' शब्द से तात्पर्य अध्यात्म शास्त्र में 'रक्त संचार' करने वाली थैली से नहीं, वरन् भाव संस्थान से है। चूँकि विज्ञानमय कोश का केन्द्र काया में हृदय स्थान से इर्द-गिर्द माना गया है। इसलिए उसे 'हृदय' की संज्ञा दी गई है। 'प्रकाश' शब्द का भी अध्यात्म शास्त्र में 'ज्ञान' अर्थ होता है। रोशनी या चमक नहीं। अस्तु किसी को इन शब्दों के कारण भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए और न तो रक्त-संचार की थैली को भाव संस्थान 'हृदय' मानना चाहिए और न प्रकाश को चमक। इन्हें अधिक से अधिक प्रतीक, प्रतिमा या प्रतिनिधि की संज्ञा दी जा सकती है।

विज्ञानमय कोश का स्थान हृदय चक्र माना गया है। इसका दूसरा नाम ब्रह्म-चक्र भी है। ब्राह्मी चेतना की ओर उसका प्रवाह रहने से ब्रह्म-चक्र नाम देना उपयुक्त ही है। भक्ति भाव से परमेश्वर को प्राप्त किया जाता है। जीव और ब्रह्म की एकता बढ़ाने में यह भक्ति ही प्रधान भूमिका बनाती है। भक्ति का प्रारम्भिक रूप श्रद्धा है। श्रद्धा को जड़ और भक्ति को तना कहा जा सकता है। श्रेष्ठता के प्रति असीम प्यार को श्रद्धा कहते हैं और करुणा, सेवा,

उदारता जैसी कोमल भाव संवेदनाओं को भक्ति। यह भक्ति ईश्वर के प्रति भी हो सकती है और उत्कृष्ट आदर्शों के प्रति भी। जहाँ श्रद्धा तत्व के लिए उपयुक्त आधार हो वहाँ व्यक्तियों से अथवा पदार्थों से भी भक्ति हो सकती है। गुरुजनों, महामानवों के प्रति–तीर्थ देव–प्रतिमा आदि के माध्यम से भक्ति–भावना को विकसित करने का अभ्यास किया जा सकता है। ईश्वर भक्ति इसी प्रकार से आरम्भ होकर ब्रह्म परायणता तक विकसित होती चली जाती है। श्रद्धा की स्थापना एवं दृढ़ता में विवेक सहायक होता है। पहले यह परख की जाती है कि अमुक व्यक्ति या पदार्थ श्रद्धा के उपयुक्त है या नहीं। परख की कसौटी पर जब उत्कृष्टता का विश्वास हो जाता है तो श्रद्धा जमती और परिपक्व होती है। बिना विचारे–भावावेश में किसी के बहकावे में अथवा देखा–देखी जो लगाव उत्पन्न होता है उसमें स्थायित्व नहीं होता। प्रामाणिकता के अभाव में तो अन्ध श्रद्धा ही हो सकती है और उसमें चंचलता एवं अस्थिरता ही बनी रहती है। अन्ध श्रद्धा से व्यर्थ के अथवा अनर्थ मूलक काम तो हो सकते हैं किन्तु उच्चस्तरीय त्याग बलिदान कर सकने के लिए प्रामाणिक एवं विवेक सम्मत श्रद्धा ही काम देती है।

प्रेम यों कामुकता और मोहग्रस्तता के आकर्षणों में भी समझा जाता है, पर वस्तुतः उनमें उसकी छायामात्र होती है। विज्ञानमय कोश के साथ जिस उच्च–स्तरीय भाव संवेदना की दिव्य शक्ति जुड़ी रहती है, उसी का नाम पवित्र प्रेम है, उसी को परमेश्वर कहते हैं। रस का समुद्र वही है। श्रद्धा और भक्ति के रूप में उसी का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। श्रद्धा और विश्वास की शक्ति का परिचय हम प्रत्यक्ष प्राप्त करते रहते हैं, उसकी सामर्थ्य सत्य के ही समतुल्य है। रस्सी का सांप–झाड़ी का भूत जैसे भयंकर परिणाम विकृत श्रद्धा के ही हैं। प्रतिमा में देवता का प्रकटीकरण श्रद्धा का ही चमत्कार है। आस्था एव निष्ठा भी श्रद्धा का ही वह भाग है जो व्यक्तित्व का स्वरूप निर्धारित करता है। गीताकार की वह उक्ति पूर्णतया सत्य है जिसमें कि ''यो यच्छ्रद्धः स एवस'' में यह कहा है जिसकी जैसी श्रद्धा है वस्तुतः वह वैसा ही है। व्यक्तित्व हाड़–मांस पर, शिक्षा साधनों पर नहीं, अपने सम्बन्ध में–अपनी आकांक्षाओं एवं मान्यताओं के सम्बन्ध में बनाई गई आस्थाओं, निष्ठाओं एवं विश्वासों पर ही निर्भर रहता है। प्रकारान्तर से इस हृदय–चक्र को–विज्ञानमय कोश को ही समूचे व्यक्ति का बीजकरण एवं मूल आधार कह सकते हैं। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय तो उसके सज्जा साधन भर हैं।

परिष्कृत विज्ञान–चक्र में उत्पन्न चुम्बकत्व ही दैवी तत्त्वों को सूक्ष्म जगत् से आकर्षित करने और आत्म–सत्ता में भर लेने की प्रक्रियायें सम्पन्न करता है। भाव संवेदनाओं की

शक्ति ही दैवी तत्वों को आकर्षित करती है। इसी से भक्ति एवं प्रेम को आत्मिक प्रगति का आधार माना गया है। प्रतिमा भक्ति से गुरु भक्ति से अभ्यास करते–करते ब्रह्म–भक्ति का लक्ष्य प्राप्त करने की स्थिति बन जाती है। देव शक्तियों से लेकर ब्रह्म प्राप्ति की समस्त सफलताएँ विज्ञानमय कोश की भाव संवेदनाओं के चुम्बकत्व पर निर्भर रहती हैं। अनेक प्रकार की सिद्धियाँ एवं विभूतियाँ प्राप्त करने के लिए जो विविध–विधि अनुष्ठान, उपचार, तप, साधन किये जाते हैं, उनका उद्देश्य साधक की श्रद्धा को परिपक्व करना है। वह जितनी ही प्रगाढ़ होती जाती है–दिव्य–लोक के अनेकानेक अनुदान, वरदान उसी आधार पर खिंचते, बरसते चले आते हैं। हृदय–चक्र की विज्ञानमय कोश की प्रखरता ही मनुष्य को–महामानव सिद्धपुरुष ऋषि, देवात्मा एवं परमात्मा की स्थिति तक पहुँचाती है।

प्रत्यक्ष जगत की तरह ही, ठीक उसी के साथ सटा, घुला हुआ सूक्ष्म जगत है। स्थूल जगत की गतिविधियाँ, इस सूक्ष्म जगत की हलचलों पर निर्भर रहती हैं। बीज में पूरा वृक्ष–शुक्राणु में पूर्ण प्राणी छिपा रहता है, पर दीखता नहीं। ठीक इसी प्रकार स्थूल जगत का प्राण सूक्ष्म जगत है। आन्तरिक आकांक्षाओं के अनुरूप काय–कलेवर की गतिविधियाँ चलती है। ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म जगत में इस विश्व का भूत और भविष्य विद्यमान रहता है। स्थूल जगत में ही वर्तमान का बहुत ही उथला इन्द्रियगम्य भाग भर दिखाई देता है। उसका भी अधिकांश भाग अप्रत्यक्ष ही रहता है। सूक्ष्म जगत एक विशाल समुद्र है। स्थूल जगत को तो उसकी कुछ सामयिक लहरें भर कह सकते हैं। सामान्यतया हमारी गतिविधियाँ तथा जानकारियाँ स्थूल जगत तक ही सीमित रहती हैं पर यदि विज्ञानमय कोश समर्थ हो तो सूक्ष्म जगत की समस्त हलचलों को देख सकते हैं तथा भूत एवं भविष्य की परिस्थितियों से अवगत रह सकते हैं। दूरवर्ती सब अदृश्य को देख सकना भी हमारी दिव्य–दृष्टि के लिए सम्भव हो जाता है। इसी विशिष्ट क्षमता को अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। सिद्ध पुरुषों में उसी स्तर की अनेकों अलौकिक विशेषताएँ देखी जाती हैं। वे न केवल सूक्ष्म जगत की परिस्थितियों तथा सम्भावनाओं को जान ही लेते हैं, वरन् उन्हें प्रभावित करने में भी समर्थ होते हैं। शाप से प्रतिकूल और वरदान से अनुकूल परिस्थितियाँ सामने आती हैं। यह सिद्ध–पुरुषों का अपना पुरुषार्थ है जो सूक्ष्म जगत से अपने प्रभाव पराक्रम के द्वारा उनने उपार्जित किया होता है।

अपने इस स्थूल जगत के आदान–प्रदान कितने सुखद होते हैं, उस सरसता के प्रति आकर्षित एवं मुग्ध होने के कारण ही जीवात्मा इस मल–मूत्र की गठरी में निर्वाह करने के लिए सहमत हो सका है। मरते समय कोई भी इसे स्वेच्छा से नहीं त्यागना चाहता और मौत

से डरता है। यह जड़ जगत से सम्बन्धित पदार्थों और प्राणियों की सुखद प्रतिक्रिया ही है जिसमें रस लेने के लिए आत्मा ने जन्म–मरण के चक्र में भ्रमण करते रहना स्वीकार किया है। सूक्ष्म जगत् की उपलब्धियाँ और अनुभूतियाँ इससे असंख्य गुनी बढ़ी–चढ़ी हैं। उससे जिनका सम्बन्ध है, जो उसे देखते, अनुभव करते हैं, व स्वर्गलोक में रहने वाले देवताओं की तरह सुखी, सन्तुष्ट रहते हैं। उनके पास इतनी विभूतियाँ होती है कि अपनी आवश्यकता से अधिक देखकर उन्हें वे दूसरे जरूरतमन्दों पर बाँटते बखेरते–महानतम दानवीरों की तरह स्वयं सुखी रहते हैं और दूसरों को सुखी बनाते हैं।

विज्ञानमय कोश का केन्द्र हृदय–चक्र है। इस शक्ति भंवर में समर्थ चक्रवात में निवास करने वाली आत्म–चेतना के लिए यह सरल पड़ता है कि वह ब्रह्म–चेतना के साथ अपनी विशेष स्थिति के कारण घनिष्टता स्थापित कर ले। इस सफलता के सहारे मिलने वाली उपलब्धियाँ इतनी गरिमामयी हैं कि उन्हें पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता है।

ध्यान करें शरीर सूक्ष्म तत्व से बना तेज पुञ्ज हृदय–क्षेत्र में तेजोवलय जैसी घनी भँवर, उससे उठती तरंगें शरीर में तरंगित होती हैं और चारों ओर प्रकाश के समूह में अन्तरिक्ष में फैल जाती हैं।

जब 'मैं' था तब 'तू' नहीं, जब 'तू' है 'मैं' नायँ।
प्रेम–गली अति सांकरी, जामें द्वै न समायँ।।

अमृतवाणी

जब दूसरे लोग तुम्हारी आलोचना, निन्दा करते हों, तब उन्हें रोकने की चेष्टा न करो, क्योंकि इन्हीं सब बातों के द्वारा तुममें सद्गुणों की उन्नति होगी। यदि इन बातों का विरोध करोगे, तो प्रगति में रुकावट होगी। इस बात को स्मरण रखो कि संसार में सच्चे आग बुझाने वाले वे ही हैं, जिन्हें स्वयं कोई आग नहीं सता रही है। सच्ची शान्ति वही दे सकता है, जो कहीं भी अशान्त नहीं है।

यदि शक्ति चाहते हो, तो दुर्बलता को दूर करने के लिए तपस्वी बनो, मन का निरोध करो, विषयों की ओर दौड़ने वाली इन्द्रियों का दमन करो, भोगों से विरक्त रहो।

शान्ति चाहते हो, तो संसार में जहाँ कहीं वस्तु और व्यक्ति के प्रति राग हो उसका त्याग करो।

बुद्धियोग

—एक साधक

परमपिता परमात्मा का दर्शन परम शुद्ध अन्तःकरण में ही सम्भव होता है। इष्ट या ईश्वर का स्थूल दर्शन हो जाने पर भी जीव का परम कल्याण सम्पादन नहीं होता। वेद में 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' का उद्घोष प्रसिद्ध है। आत्म–ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है। ईश्वर के सगुण उपासना का फल भी आत्मज्ञान या परमात्मज्ञान ही है। जो भगवान को अपना सर्वस्व मानकर मन–प्राण से युक्त होकर भगवान की लीला, चरित्रों एवं कथाओं को एक दूसरे को सुनाते और सुनते हैं उनके लिए भगवान कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजताम प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।

अर्थात् निरन्तर मेरे ध्यानादि में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजन करने वाले भक्तों को मैं तत्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।

उन भक्तों के अन्तःकरण में स्थित हुआ मैं स्वयं ही अज्ञानान्धकार को प्रकाशमय तत्वज्ञानरूप–दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

इस प्रकार से भगवान ने गीता में सगुण उपासना का फल तत्वज्ञानरूप योग ही बताया है। गीता के अठारहवें अध्याय में भी भगवान ने बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्त सततं भव। अर्थात् बुद्धियोग का आश्रय लेकर निरन्तर परमात्मा में चित्तवाला होने का आदेश दिया है।

योगदर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा को योग की बहुत उत्कृष्ट भूमिका मानी जाती है। इस प्रज्ञा के प्राप्त हो जाने पर योगी को वह दृष्टि मिल जाती है जिससे वह पर–दर्शन के योग्य हो जाता है। उपनिषदों में भी इस बात का स्पष्ट संकेत है कि आत्म–तत्त्व का दर्शन सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि से ही सम्भव है। बुद्धि की सूक्ष्मतम अवस्था ही योगशास्त्र में विवेक–ख्याति के नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही प्रज्ञा प्रसाद या अध्यात्म प्रसाद भी कहा जाता है। इस प्रज्ञा के उदित होने पर अन्य जितने भी संस्कार हैं वह रुक जाते हैं, केवल प्रज्ञजन्य संस्कारों का प्रवाह ही चित्त में प्रवाहित होता रहता है। योगदर्शन का सूत्र है—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी।

इस अवस्था के पा जाने पर योगी संस्कारों के अधीन नहीं रहता, संस्कार उसके अधीन रहा करते हैं। चित्त में जो भी संस्कार अभुक्त रहा करते हैं उन सबको योगी अपने संकल्प से सामने लाकर सूक्ष्मीकरण की विधि से भुगतान में ले लेता है।

ऋतम्भरा प्रज्ञा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर योगी सर्वत्र अपने को व्याप्त देखता है–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।

अर्थात् ऐसी स्थिति में योगी सभी प्राणियों को अपने अन्दर देखता है और अपने को सभी प्राणियों में देखता है। अहं, इदम्, अस्मि, ब्रह्मतत्व आदि का जो बोध होता है यह भी बुद्धि के ही धर्म हैं। इष्ट में तद्रुप होना तथा एकाकार देखना भी इसी अवस्था के फल हैं। सद्‌गुरुदेव भगवान अपने प्रवचनों में कहा करते थे कि अखण्ड मण्डलाकार तेज में लीन देखना भी सम्प्रज्ञात स ाधि की ही अ स्था है। जो कुछ भी बुद्धि के अनुभव में आ रहा है वह सब सम्प्रज्ञात की ही भूमिकायें हैं। बुद्धि के क्षेत्र की बातें हैं। बुद्धि तत्त्व से भी 'अस्मि' वृत्ति को लाँघकर ही योगी निर्बीज में अवस्थित होता है। तभी योगी कैवल्यभाक् बन जाता है।

नित्य स्मरणीय हमारे सद्‌गुरुदेव भगवान अपने प्रवचन में बताया करते थे कि सिद्धयोग परम्परा में गुरुदेव का अन्तिम व सर्वोत्कृष्ट शक्ति प्रक्षेप जब होता है तब साधक की बुद्धि अत्यन्त निर्मल हो जाती है। उसे स्वतः ही तत्व बोध होने लगता है। आत्मदेव गुरुदेव अपनी व्यापक आत्म–सत्ता से शिष्य के बुद्धिस्थ होकर उसके मन में आने वाले सारे संशयों का निवारण कर देते हैं। 'भिद्यते हृदय ग्रन्थि, छिद्यन्ते सर्व संशयाः' की उक्ति सहज ही चरितार्थ हो जाती है। इस अवस्था में गुरुदेव अपने शिष्यों के उत्प्रेरक बनकर उनमें निवास करते हैं।

गुरुदेव भगवान के चरण–शरण में बैठकर फिरोजाबाद के टाट वाले बाबा (रघुनन्दन प्रसाद जी) तथा अनान्य साधकों ने साधना की। गुरुदेव की करुण–कृपा से कुछ ही महीनों में उन्हें 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' की प्राप्ति हो गई जिसके फलस्वरूप वे लोग भूत भविष्य के ज्ञाता बन गये थे। उनमें स्फुट प्रज्ञालोक का उदय हो गया था। यह सर्व–समर्थ गुरुदेव के संकल्प का ही फल था। इस प्रकार का संयोग परम गुरुभक्त एवं अत्यन्त पुण्यात्मा व्यक्ति को ही मिला करता है। गुरुदेव भी वही 'बुद्धियोग' सहज में ही शिष्य को प्रदान कर देते हैं जिस बुद्धियोग की बात भगवान ने गीता में कही है। किसी भी उपाय से हो चाहे भगवद्भक्ति से हो, गुरुभक्ति से अथवा साधना के बल से हो, इस बुद्धियोग की प्राप्ति आवश्यक है इसके अभाव में जीव दृष्टिविहीन ही होता है।

आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग

—स्वामी विवेकानन्द

(मन की सामर्थ्य)

अब मैं तुम्हें एक सिद्धान्त बतलाता हूँ। उसके सम्बन्ध में मैं अभी तर्क उपस्थित न करूँगा, केवल निष्कर्ष ही तुम्हारे सामने रखूँगा। प्रत्येक मनुष्य अपने बाल्यकाल में ही उन–उन अवस्थाओं को पार कर लेता है, जिनमें से होकर उसका समाज गुजरा है। अन्तर केवल इतना है कि समाज को हजारों वर्ष लग जाते हैं, जबकि बालक कुछ वर्षों में ही उनमें से हो गुजरता है। बालक प्रथम जंगली मनुष्य की अवस्था में होता है—वह तितली को अपने पैरों तले कुचल डालता है। जैसे–जैसे वह बढ़ता है, वैसे–वैसे अपनी जाति की विभिन्न अवस्थाओं को पार करता जाता है, जब तक कि वह अपनी जाति की उन्नतावस्था तक पहुँच नहीं जाता। अन्तर यही है कि वह तेजी से और जल्दी–जल्दी पार कर लेता है। अब सम्पूर्ण मानव–समाज को या सम्पूर्ण प्राणि–जगत् और मनुष्य तथा निम्न स्तर के प्राणियों की समष्टि को एक जाति मान लो। एक ऐसा ध्येय है, जिसकी ओर यह समष्टि बढ़ रही है। उस ध्येय को हम पूर्णत्व नाम दे दें। कुछ स्त्री–पुरुष ऐसे होते हैं, जो मानव–समाज के भविष्यकालीन सम्पूर्ण विकास की कल्पना पहले ही कर लेते हैं। सम्पूर्ण मानव–समाज जब तक उस पूर्णत्व को न पहुँचे, तब तक राह देखते रहने और पुनः पुनः जन्म लेने की अपेक्षा, वे जीवन के कुछ ही वर्षों में इन सब अवस्थाओं का अतिक्रमण कर पूर्णता की ओर अग्रसर हो जाते हैं। और हम जानते हैं कि इन अवस्थाओं में से हम तेजी से आगे बढ़ सकते हैं, यदि हम केवल आत्मवंचना न करें। असंस्कृत मनुष्यों को अगर हम एक द्वीप पर छोड़ दें और उन्हें कठिनता से पर्याप्त खाने, ओढ़ने तथा रहने को मिले, तो वे धीरे–धीरे उन्नत हो संस्कृति की एक–एक सीढ़ी चढ़ते जायेंगे। हम यह भी जानते हैं कि अन्य विशेष साधनों द्वारा भी इस विकास की गति बढ़ायी जा सकती है। क्या हम वृक्षों के विकास में मदद नहीं करते? यदि वे निसर्ग पर छोड़ दिये जाते, तो भी वे बढ़ते, अन्तर यही है कि उन्हें अधिक समय लगता। निसर्गतः लगने वाले समय से कम समय में ही उसका विकास होने के लिए हम मदद पहुँचाते हैं। कृत्रिम साधनों द्वारा वस्तुओं का विकास द्रुततर करना—यही हम निरन्तर करते आये हैं। तो फिर हम मनुष्य का विकास शीघ्रतर क्यों नहीं कर सकते? समस्त जाति के

विषय में हम ऐसा कर सकते हैं। परदेशों में प्रचारक क्यों भेजे जाते हैं? इसलिये कि इन उपायों द्वारा जाति को हम शीघ्रतर उन्नत कर सकते हैं। तो, अब क्या हम व्यक्ति का विकास शीघ्रतर नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं। क्या हम इस विकास की शीघ्रता की कोई मर्यादा बाँध सकते हैं, यह हम नहीं कह सकते कि एक जीवन में मनुष्य कितनी उन्नति कर सकता है। ऐसा कहने के लिए तुम्हारे पास कोई आधार नहीं कि मनुष्य केवल इतनी ही उन्नति कर सकता है, अधिक नहीं। अनुकूल परिस्थिति से उसका विकास आश्चर्यजनक शीघ्रता से हो सकता है। तो फिर, क्या मनुष्य के पूर्ण विकसित होने के पूर्व उसके विकास की गति की कोई मर्यादा हो सकती है? अतएव इस सब का तात्पर्य क्या है? यही कि मनुष्य इस जन्म में ही पूर्णत्व–लाभ कर सकता है, और उसे इसके लिए करोड़ों वर्ष तक इस संसार में आवागमन की आवश्यकता नहीं। और यही बात योगी कहते हैं कि सब बड़े अवतार तथा धर्मसंस्थापक ऐसे ही पुरुष होते हैं; उन्होंने इस एक ही जीवन में पूर्णत्व प्राप्त कर लिया है। दुनिया के इतिहास के सब कालों में इस तरह के मनुष्य जन्म लेते आये हैं। अभी कुछ ही दिन पूर्व एक ऐसे महापुरुष ने जन्म लिया था, जिन्होंने मानव–समाज के सम्पूर्ण जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव अपने इसी जीवन में कर लिया था और जो इसी जीवन में पूर्णत्व तक पहुँच गये थे। परन्तु विकास की यह शीघ्र गति भी कुछ नियमों के अनुसार होनी चाहिए। अब ऐसी कल्पना करो कि इन नियमों को हम जान सकते हैं, उनका रहस्य समझ सकते हैं और उनको, अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए उपयोग में ला सकते हैं, तो यह स्पष्ट है कि इससे हमारा विकास होगा। हम यदि अपनी उन्नति तीव्रतर करें, अपना विकास शीघ्रतर करें, तो इस जीवन में ही हम पूर्ण विकसित हो सकते हैं। हमारे जीवन का उदात्त अंश यही है, और मनोविज्ञान तथा मन की शक्तियों का अध्ययन इस पूर्ण विकास को ही अपना ध्येय मानता है। पैसा और भौतिक वस्तुएँ देकर दूसरों की सहायता करना तथा उन्हें सुगमता से जीवनयापन करना सिखलाना–ये सब तो जीवन की केवल गौण बातें हैं।

मनुष्य को पूर्ण विकसित बनाना–यही इस शास्त्र का उपयोग है। युगानुयुग प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। जैसे एक काठ का टुकड़ा केवल खिलौना बन समुद्र की लहरों द्वारा इधर–उधर फेंका जाता रहता है, उसी प्रकार हम भी प्रकृति के जड़ नियमों के हाथों खिलौना बनें, यह आवश्यक नहीं। यह शास्त्र चाहता है कि तुम शक्तिशाली बनो, उन्नति–कार्य अपने ही हाथ में लो, प्रकृति के भरोसे मत छोड़ो और इस छोटे से जीवन के उस पार हो जाओ। यही वह उदात्त ध्येय है।

मनुष्य के ज्ञान, शक्ति और सुख की वृद्धि होती जा रही है। हम एक जाति के रूप में

लगातार उन्नति करते जा रहे है। हम देखते हैं कि यह सच है, बिल्कुल सच है। क्या यह प्रत्येक व्यक्ति के विषय में भी सत्य है? हाँ, कुछ अंश तक सच है। किन्तु फिर, यही प्रश्न उठता है कि इसकी सीमा–रेखा कौन सी है? मैं तो केवल कुछ ही गज दूरी तक देख सकता हूँ, लेकिन मैंने ऐसा मनुष्य देखा है, जो आँखें बन्द कर लेता है और फिर भी बता देता है कि दूसरे कमरे में क्या हो रहा है। अगर तुम कहो कि हम इस पर विश्वास नहीं करते, तो शायद तीन सप्ताह के अन्दर वह मनुष्य तुममें भी वैसी ही सामर्थ्य उत्पन्न कर देगा। यह किसी भी मनुष्य को सिखलाया जा सकता है। कुछ मनुष्य तो सिर्फ पाँच मिनिट के अन्दर ही यह जानना सीख सकते हैं कि दूसरे मनुष्य के मन में क्या चल रहा है। ये बातें प्रत्यक्ष कर दिखलायी जा सकती हैं।

अब यदि यह बात सच है, तो सीमा–रेखा कहाँ पर खींची जा सकती है? अगर मनुष्य कोने में बैठे हुए दूसरे मनुष्य के मन में क्या चल रहा है, यह जान सकता है, तो वह दूसरे कमरे में बैठे रहने पर भी क्यों न जान सकेगा, और इतना ही क्यों, कहीं पर भी बैठकर क्यों न जान सकेगा? हम यह नहीं कह सकते कि ऐसा क्यों नहीं होगा। हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि यह असम्भव है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि हम नहीं जानते, यह कैसे सम्भव है। ऐसी बातें होना असम्भव है, ऐसा कहने का भौतिक वैज्ञानिक को कोई अधिकार नहीं। वे सिर्फ कह सकते हैं, 'हम नहीं जानते'। विज्ञान का काम केवल इतना है कि घटनाओं को एकत्रित कर उन पर सिद्धान्त बाँधे, अनुस्यूत नियमों को निकाले और सत्य का विधान करे। परन्तु यदि हम सत्य घटनाओं को ही इन्कार करने लगें, तो विज्ञान बन कैसे सकता है?

मनुष्य कितनी शक्ति सम्पादन कर सकता है, इसका कोई अन्त नहीं। भारतीय मन की यही विशेषता है कि जब किसी एक वस्तु में उसे रुचि उत्पन्न हो जाती है, तो वह उसी में मग्न हो जाता है और दूसरी बातों को भूल जाता है। तुम जानते हो कि कितने शास्त्रों का उद्‌गम भारतवर्ष में हुआ है। गणितशास्त्र का आरम्भ वहाँ ही हुआ। आज भी तुम लोग संस्कृत अंक–गणना–पद्धति के अनुसार एक, दो, तीन, इत्यादि शून्य तक गिनते हो, और तुमको यह भी मालूम है कि बीजगणित का उदय भारत में ही हुआ। उसी तरह, न्यूटन का जन्म होने के हजारों वर्ष पूर्व ही भारतीयों को गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त अवगत था।

इस विशेषता की ओर जरा ध्यान दो। भारतीय इतिहास के एक समय में भारतवासियों का चित्त मानव और मानवी मन के अध्ययन में ही डूब गया था। और यह विषय अत्यन्त आकर्षक था, क्योंकि अपनी ध्येय–वस्तु प्राप्त करने का उन्हें यह सुलभतम तरीका लगा।

इस समय भारतवासियों का ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया था कि विशिष्ट नियमों के अनुसार परिचालित होने से मन कोई भी कार्य कर सकता है। और इसीलिए मन की शक्तियाँ ही उनके अध्ययन का विषय बन गयी थीं। जादू, मन्त्र–तन्त्र तथा अन्यान्य सिद्धियाँ कोई साधारण बातें नहीं हैं; ये भी उतनी ही सरलता से सिखलायी जा सकती हैं, जितना कि इनके पूर्व भौतिक शास्त्र सिखलाये गये थे। इन बातों पर उन लोगों का इतना दृढ़ विश्वास बैठ गया कि भौतिक शास्त्र करीब–करीब मरे–से हो गये। यही एक बात थी, जिसने उनका मन खींच रखा था। योगियों के विभिन्न सम्प्रदाय अनेक प्रकार के प्रयोग करने लगे। कुछ लोगों ने प्रकाश के सम्बन्ध में प्रयोग किये और यह जानना चाहा कि विभिन्न वर्णों की किरणों का शरीर पर कौन–सा प्रभाव पड़ता है। वे विशिष्ट रंग का कपड़ा पहनते थे, विशिष्ट रंग में वास करते थे और विशिष्ट रंग के ही अन्न खाते थे। इस तरह सब प्रकार के प्रयोग किये जाने लगे। दूसरों ने अपने कान बन्द कर या खुले रखकर ध्वनि के विषय में प्रयोग करना आरम्भ किया, और अन्य योगियों ने घ्राणेन्द्रिय के सम्बन्ध में।

सभी का ध्येय एक था–वस्तु के मूल अथवा सूक्ष्म कारण तक किस प्रकार पहुँचना, और उनमें से कुछ लोगों ने सचमुच ही आश्चर्यजनक सामर्थ्य प्रकट किया। बहुतों ने आकाश में विचरने और उड़ने का प्रयत्न किया। मैं एक बड़े पाश्चात्य विद्वान् की बतलायी हुई एक कथा कहूँगा। सीलोन के गवर्नर ने, जिन्होंने यह घटना प्रत्यक्ष देखी थी, उससे कही थी। एक लड़की उपस्थित की गयी, और वह पलथी मारकर 'स्टूल' पर बैठ गयी। 'स्टूल' लकड़ियों को आड़ी–टेढ़ी जमाकर बना दिया गया था। कुछ देर उसके उस स्थिति में बैठने के पश्चात् वह तमाशा दिखाने वाला मनुष्य धीरे–धीरे एक–एक करके लकड़ियाँ हटाने लगा और वह लड़की हवा में, अधर में ही लटकती रह गयी। गवर्नर ने सोचा कि इसमें कोई चालाकी है, इसलिए उन्होंने तलवार खींची और तेजी से उस लड़की के नीचे से घुमायी। लेकिन लड़की के नीचे कुछ भी नहीं था। अब कहो, यह क्या है? यह कोई जादू न था और न कोई असाधारण बात ही थी। यही वैशिष्ट्य है। कोई भी भारतीय ऐसा न कहेगा कि इस तरह की घटना नहीं हो सकती। हिन्दू के लिए यह एक साधारण बात है। तुम जानते हो, जब हिन्दुओं को शत्रुओं से युद्ध करना होता है तो वे क्या कहते हैं? ''हमारा एक योगी तुम्हारे झुण्ड–के–झुण्ड मार भगायेगा!'' उस राष्ट्र का यह दृढ़ विश्वास है। हाथ या तलवार में ताकत कहाँ? ताकत तो है आत्मा में।

मातृ-भाव की दृष्टि

स्वस्त्री को छोड़कर अन्य स्त्रियों की ओर देखने की जो पवित्र दृष्टि होती है वह धार्मिक दृष्टि कहलाती है। छोटी उमर वाली स्त्री को देखने के समय 'पुत्रीभाव की दृष्टि' धारण करनी योग्य है। अपने समान आयु वाली स्त्री को देखते समय 'बहिन भाव ही दृष्टि' धारण करनी तथा अपने से बड़ी उमर वाली स्त्री की ओर देखने के समय मातृ-भाव की दृष्टि धारण करनी चाहिए। यही धर्म है पर स्त्री मात समान समझना चाहिए, अन्य भाव धारण करना योग्य नहीं है। ब्रह्मचर्य धारण करना है तो इस दृष्टि का अवलम्बन करना अत्यन्त आवश्यक है।

जो पूर्ण ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं वे स्त्री की ओर दृष्टिक्षेप नहीं करते और किसी समय देखना पड़े तो उस स्त्री को माता समझकर ही देखते है। इससे ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। जो भाव पुरुषों को स्त्री के विषय में धारण करना चाहिए, वैसा ही पवित्र भाव स्त्रियों को पुरुषों के विषय में धारण करना चाहिए। इस प्रकार स्त्री-पुरुष परस्पर व्यवहार करने लगें तो श्रेष्ठ और पवित्र वायु मण्डल शीघ्र ही बन सकता है। प्रत्येक स्त्री राष्ट्र की माता है जब इस प्रकार दृष्टि-पवित्र बनेंगे तब आचार भी पवित्र बन सकेंगे।

- स्व. श्री पाद दामोदर सातवलेकर

संकल्प शक्ति

संकल्प शक्ति ही मनुष्य जीवन में उन्नति और अवनति का कारण होती है। उपनिषदों में बताया गया है कि 'संकल्प मयोऽयं पुरुष:' अर्थात् मनुष्य संकल्प का ही बना हुआ है। आज हमें जितने महापुरुष दीख पड़ते हैं, जिनके नाम पर संसार फूल चढ़ाता है और जिन्हें अत्यन्त आदर से स्मरण करता है,उनके जीवन को पवित्र और उच्च बनाने का कारण संकल्प शक्ति ही है। इसीलिए वेदों में प्रार्थना की गई है - तन्मे मन: शिव संकल्पमस्तु। अर्थात् मेरा मन पवित्र संकल्प वाला हो। प्रारब्ध कर्म संकल्प द्वारा ही क्रियमाण होते हैं। यदि मनुष्य अपने संकल्प को विशुद्ध रक्खें और जब वह मलिन और अपवित्र होने लगे तो यह जानकर कि मुक्त पर कोई भारी विपत्ति आने वाली है शीघ्र ही अपने संकल्प और विचारों को शुद्धऔर पवित्र बना ले तो कभी भी दुर्भाग्य उसको भयभीत नहीं कर सकता।

जो मनुष्य दु:खों को अपने जीवन में कम करने की इच्छा करता है, उसे संकल्प-विद्या का सदुपयोग सीखना चाहिए।

आकाश के सूक्ष्म मण्डलों (ईश्वर) पर संकल्प की तरंगें दौड़ती काम करती और दूर दूर तक पहुँचती रहती हैं।

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सैवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

□□□□□□

अतीव सूक्ष्मं परमात्म तत्वम्

अतीव सूक्ष्मं परमात्मा तत्वम् न स्थूल दृष्ट्या प्रतिपत्तु मर्हति।
समाधिनात्यन्त सुसूक्ष्म वृत्त्या ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्ध बुद्धिभिः।।

परमात्मा तत्व अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे स्थूल दृष्टि से कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता।?
इसलिए अति शुद्ध बुद्धि वाले सत्पुरुषों को उसे समाधि द्वारा अति सूक्ष्म वृत्ति से जानना चाहिए।

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. रासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एण्ड प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सैवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य श्र. (डॉ.) रासलाल शर्मा